# तुलनात्मक अध्ययन
## भारतीय भाषाएं और साहित्य

# तुलनात्मक अध्ययन

## भारतीय भाषाएं और साहित्य

सम्पादक

भ० ह० राजूरकर

राजमल बोरा



22 cm

यह पुस्तक महाराष्ट्र राज्य, हिन्दी साहित्य-अकादमी एवं हिन्दी विभाग, मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद के सहयोग से प्रकाशित हुई है।




ISBN. 81-7055-238-9

वाणी प्रकाशन
4697/5, 21 ए, दरियागंज,
नयी दिल्ली-2 द्वारा प्रकाशित

आवरण : मिनहा

रुचिका प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-32 में मुद्रित


TULANATMAK ADHYAYANA
Bharatiya Bhashayen Aur Sahitya
(A Comparative Study of Indian Languages and Literature)
Edited by B H Rajoorkar & Rajmal Bora

# सम्पादकीय

16, 17, 18 मार्च को हिन्दी विभाग में 'तुलनात्मक अध्ययन संगोष्ठी' का आयोजन हुआ। उक्त आयोजन विभाग एवं महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी के तत्वावधान में हुआ। इसमें जो आलेख-पाठ हुए उनको सम्पादित कर प्रकाशन की योजना बनी। तदनुसार इस पुस्तक से पहले एक ऐसी ही पुस्तक 'तुलनात्मक अध्ययन : स्वरूप और समस्याएं' छप चुकी है। उसी क्रम में यह दूसरी पुस्तक है।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय प्रधान रूप से 'भारतीय भाषाएं और साहित्य' है। 'विषय प्रवेश' के अन्तर्गत पुस्तक के विषय को स्पष्ट किया गया है। व्यावहारिक रूप में 'तुलनात्मक अध्ययन' से सम्बन्धित जिन आलेखों का पठन हुआ, उन्हें इस पुस्तक में स्थान दिया गया है।

पुस्तक को तीन खण्डों में विभाजित किया गया है—(1) हिन्दी-मराठी, (2) हिन्दी तथा अन्य भाषाएं तथा (3) अन्य विषय।

महाराष्ट्र की भाषा मराठी और महाराष्ट्र के पड़ोस की गुजराती, तेलुगु तथा कन्नड़ भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित लेख पुस्तक में संकलित हैं। हिन्दी तथा उर्दू— दोनों ही भाषाएं महाराष्ट्र, विशेष रूप से मराठवाड़ा, में आंचलिक बोलियों के रूप में भी प्रचलित रही हैं। दोनों का मिला-जुला नाम दक्खिनी रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में हिन्दी तथा उर्दू दोनों भाषाओं का ऐतिहासिक योगदान रहा है। इस विषय पर विशेष लेख पुस्तक में दिये गये है।

तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित शोधकार्य महाराष्ट्र और पड़ोस के प्रदेशों के विश्वविद्यालयों में ही नहीं, अपितु सारे देश में अब होने लगे हैं। ऐसे कार्यों के सर्वेक्षण से सम्बन्धित दो लेख पुस्तक में है—(1) हिन्दी-मराठी तुलनात्मक अध्ययन : शोध-सर्वेक्षण और (2) हिन्दी-तेलुगु तुलनात्मक अध्ययन : शोध-सर्वेक्षण। अपनी सीमाओं में ये दोनों ही लेख इन विषयों पर कार्य करने वालों का दिशा-निर्देश करेंगे।

तुलनात्मक अध्ययन विषय को मात्र भाषा और साहित्य तक सीमित मानना उचित नहीं है। इसके अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाएं भी सम्मिलित हो सकती हैं। इसीलिए जब हमारे विभाग में 'तुलनात्मक अध्ययन संगोष्ठी' का आयोजन हुआ तो उसमे साहित्येतर विषयों के विद्वान् भी सम्मिलित हुए और उन्होंने संगोष्ठी के लिए लेख भी लिखे। ऐसे दो आलेख इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में हैं। एक, अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है और दूसरा, समाज-विज्ञान से सम्बन्धित है। दोनों आलेखों का हिन्दी अनुवाद किया गया है।

पुस्तक को विषयानुरूप उचित आकार प्रदान करने में सभी लेखकों ने महत्व-पूर्ण कार्य किया है। उनके सहयोग के बिना यह पुस्तक कैसे तैयार हो सकती थी? संगोष्ठी मे लेखकों ने न केवल अपने आलेखो का वाचन किया, अपितु बाद में पुस्तक में प्रकाशन हेतु उन्हे ठीक भी किया है। शोध-सर्वेक्षण वाले लेख तो विशेष रूप से लिखवाए गए हं और अन्य विषयों से सम्बन्धित दोनों लेखों के अनुवाद करवाए गए हैं। हम इन सबके हृदय से आभारी हैं।

महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी ने विभाग को सामयिक सहयोग दिया है, जिसके कारण न केवल संगोष्ठी का आयोजन सम्भव हुआ, अपितु पुस्तकों को उचित आकार भी दिया गया। और अन्त में हम प्रकाशक-बन्धु श्री अरुण महेश्वरी का भी आभार व्यक्त करते हे जिनके कारण यह पुस्तक पाठको तक पहुच रही है।

भ० ह० राजूरकर
राजमल बोरा

# अनुक्रम


सम्पादकीय 7

## विषय प्रवेश

डॉ० भ० ह० राजूरकर

भारतीय भाषाएं और साहित्य 11

## प्रथम खण्ड : हिन्दी-मराठी

डॉ० राजमल बोरा

मराठी और पडोस की भाषाएं 19

डॉ० शकुन्तला पांचाल

हिन्दी-मराठी : लोकनाट्य 42

डॉ० छगनलाल गौड़

'मन समझावन' और 'श्री मनाचे श्लोक' 48

डॉ० अनीता राजूरकर

लक्ष्मीनारायण लाल और विजय तेंडुलकर 55

श्रीमती लीला दळवी

मोहन राकेश और विजय तेंडुलकर 60

डॉ० कमलाकर गंगावणे

हिन्दी-मराठी तुलनात्मक अध्ययन : शोध-सर्वेक्षण 69

## द्वितीय खण्ड · हिन्दी एवं अन्य भाषाएं


**डॉ० ललित पारिख**

हिन्दी-गुजराती भक्ति साहित्य 95

**डॉ० बी० सत्यनारायण**

हिन्दी-उर्दू भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का साहित्य 102

**प्रो० अंतेश्वर बमपुरे**

हिन्दी-कन्नड सन्त साहित्य 113

**डॉ० टी० मोहनसिंह**

हिन्दी-तेलुगु . भाषा और साहित्य 119

**डॉ० टी० मोहनसिंह**

हिन्दी-तेलुगु तुलनात्मक अध्ययन शोध-सर्वेक्षण 126

**श्रीमती चारुदत्ता चौगले**

केवट तथा मल्लाहों के लोकगीत 136


## तृतीय खण्ड अन्य विषय


**डा० जी० एम० कल्याणकर**

(अनुवादक प्रतिभा धारासरकर)

महाराष्ट्र के कृषि और औद्योगिक विकास का असतुलन 147

**डॉ० (श्रीमती) सुधा कालदाते**

(अनुवादक डा० नन्दकिशोर शाणा)

भारत और विदेशों में नशीली दवाइयों का दुरुपयोग 159

# विषय प्रवेश

# भारतीय भाषाएं और साहित्य

## डॉ० भ० ह० राजूरकर

भारतवर्ष बहुभाषी देश है। गुजराती, मराठी, कन्नड़, मलयालम, तमिल, तेलुगु, उड़िया, बंगला, असमी, कश्मीरी, पंजाबी, सिन्धी, हिन्दी तथा उर्दू भारतवर्ष की प्रधान आधुनिक भाषाएं हैं। ऐतिहासिक रूप में ये सभी भाषाएं प्रधानतः संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश भाषाओं से जुड़ी हुई हैं। भारतवर्ष के स्वतंत्र हो जाने के बाद ही भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओं का सम्मान बढ़ा है और उनके विकास की ओर ध्यान दिया गया है। आज प्रायः सभी आधुनिक भाषाएं अपने-अपने प्रदेशों में विकसित हो रही हैं। उन्हें शिक्षा का माध्यम बनाया गया है। माध्यम के रूप में विश्वविद्यालय स्तर तो अभी सब भाषाओं को प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु विद्यालय तथा महाविद्यालय स्तर तक तो उन्हें माध्यम बनाया गया है। सभी अपनी-अपनी भाषा में शिक्षा प्राप्त कर सकें, ऐसी सुविधा पहले की अपेक्षा अधिक उपलब्ध है। परिणाम यह हुआ है कि ये सब भाषाएं पहले की अपेक्षा अधिक व्यवहार में हैं और इनका तुलनात्मक अध्ययन करना सुलभ हो गया है।

हिन्दी में आरम्भ में केवल बंगला या मराठी भाषा की साहित्यिक रचनाओं के अनुवाद होते रहे हैं, किन्तु आज तो भारतवर्ष की कोई भी ऐसी भाषा नहीं है जिनके अनुवाद हिन्दी में न होते हों। अनुवादों के माध्यम से एक भाषा के साहित्य का परिचय दूसरी भाषा जानने वालों को होने लगा है। भारतवर्ष की प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं की उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों को साहित्य अकादमी की ओर से प्रतिवर्ष पुरस्कार दिए जा रहे हैं और ऐसी पुरस्कृत रचनाओं के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहे हैं। दिल्ली से छपनेवाली 'प्रकर' पत्रिका प्रतिवर्ष 'पुरस्कृत भारतीय साहित्य' से सम्बन्धित विशेषांक छापने लगी है। इन विशेषांकों में प्रत्येक पुरस्कृत रचना की विस्तृत समीक्षा होती है। पुरस्कृत भारतीय साहित्य से सम्बन्धित विशेषांक नवम्बर छपा और तब से लगातार प्रतिवर्ष ये विशेषांक छप रहे हैं। विशेषांकों की इस परम्परा ने तुलनात्मक अध्ययन के द्वार खोल दिए हैं।

बात केवल पुरस्कृत साहित्य तक की नहीं है। सच तो यह है कि अनेक साहित्यिक कृतियो के अनुवाद भारतीय भाषाओं में हो रहे हैं। अनुवादों के कारण भाषाएं समृद्ध हो रही हैं। किसी रचना का अनुवाद किसी दूसरी भाषा में हो जाता है तो उससे वह रचना अधिक पाठकों तक पहुंचती है। अनुवादों के बल पर रचनाओं का भौगोलिक विस्तार हो जाता है और उक्त भाषा की महत्ता का बोध अन्य क्षेत्र के लोग अनुभव करने लगते है। बंगाल के दो लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय अनुवादों के बल पर सारे भारतवर्ष के पाठकों के प्रिय हो गए। उन्हें पढ़कर अन्य लेखकों को अपनी-अपनी भाषा में लिखने की प्रेरणा मिली है। ऐसे और भी लेखक तथा कवि है। संस्कृत साहित्य, अंग्रेजी साहित्य तथा अन्य भाषाओं का साहित्य—इसी तरह हिन्दी भाषा में आया है। स्वयं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आरंभ में अनुवाद का कार्य किया था। उन्होने अंग्रेजी तथा बंगला की रचनाओ के अनुवाद हिन्दी में किए। अनुवाद करने वाला अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा की साहित्यिक रचनाएं पढ़ता है और उसे अनुभव होता है कि ये उत्कृष्ट रचनाए अपनी भाषा में आएं तो भाषा समृद्ध होगी। इस चिन्तन से प्रभावित होकर वह अनुवाद कार्य करता है और इस तरह तुलनात्मक अध्ययन अपने-आप होने लगता है।

भारतीय भाषाओं का आपस में सम्पर्क बढ़ना चाहिए। एतदर्थ ऐसे प्रयत्न हो रहे है जिनसे एक भाषा के साहित्य का परिचय दूसरी भाषा में दिया जा सके। लखनऊ मे 'भुवनवाणी ट्रस्ट' नामक संस्था है। इसने भारतीय भाषाओं की कुछ प्रसिद्ध श्रेष्ठ कृतियो का हिन्दी अनुवाद, मूल रचनाओं के साथ प्रकाशित किया है। कुछ नाम इस प्रकार है—

(1) कृत्तिवास कृत 'रामायण' (बंगला), (2) अेळुत्तच्छनकृत 'महाभारत' (मलयालयम), (3) प्रकाशराम कुर्यगामीकृत 'रामावतारचरित' (कश्मीरी), (4) 'बाइबलसार' (सालोमन के नीतिवचन), (5) श्री 'रुस्वा' कृत 'शरीफ़जाद' (आर्यपुत्र, उर्दू), (6)'जपुजी तथा सुखमनी साहब' गुरुमुखी मूल पाठ तथा 'गीता' के यशस्वी अनुवादक खा० ब० ख्वाज. दिलमुहम्मद कृत उर्दू पद्यानुवाद (गुरुमुखी), (7) 'सिर्रे अक्बर' (दाराशिकोह कृत ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, श्वेताश्वतर) की फारसी व्याख्या का हिन्दी अनुवाद, (8) 'ज़ादे सफ़र' (इस्लामी हदीस), (9) 'तिरुक्कुरल', नागरी में मूल, हिन्दी गद्य पद्यानुवाद (तमिल), (10) 'श्रीरामविजय', श्रीधर स्वामीकृत सानुवाद (मराठी), (11) भानुभक्तकृत 'रामायण' (नेपाली)

इसके अलावा 'कम्ब रामायण' (तमिल), 'पम्परामायण' (कन्नड़), 'रंगनाथ रामायण' (तेलुगु), 'माधवकंदली रामायण' (असमी), 'मोल्लु रामायण' (तेलुगु), 'गिरधर रामायण' (गुजराती), तुञ्चत अेळुत्तच्छनकृत 'अध्यात्म रामायण'

(मलयालम); 'वैदेहीश-विलास', उपेन्द्र मञ्ज (ओड़िआ), 'स्वामी केसलोक' (सिंधी), श्रीधर स्वामीकृत 'श्री हरिविजय' (मराठी), 'श्री गुरु ग्रथसाहब' (गुरुमुखी), 'गुजश्तः लखनऊ', मौ. शरर (उर्दू) 'लल्लद्यद' (कश्मीरी), दाराशिकोहकृत 50 उपनिषदों की फारसी-व्याख्या, पदम भगतकृत 'रुक्मिणीमंगल' (राजस्थानी), 'रियाजुस्सालिहीन' (हदीस), 'जाद सफर' (अरबी), 'रामचरित-मानस' तुलसीकृत, संस्कृत पद्यानुवाद तथा बंगला लिपि में लिप्यन्तरण एवं बंगला पद्यानुवाद—आदि का कार्य भी भुवनवाणी ट्रस्ट, लखनऊ द्वारा हो रहा है।

भारतीय भाषाओं में लिप्यन्तरण भी हो जाता है तो रचनाओं की समझ बढ़ती है। भारतीय भाषाओ की अभिजात रचनाओं में सांस्कृतिक साम्य है। इसका प्रधान कारण यह है कि संस्कृत भाषा का भौगोलिक विस्तार आधुनिक भाषाओं के साहित्यिक रूप में विकसित होने से बहुत पूर्व हो गया था और भारत-वर्ष की प्रायः प्रत्येक आधुनिक भाषा चाहे वह आर्य परिवार की हो या द्रविड़ परिवार की पारम्परिक रूप में संस्कृत वाङ्मय से सम्बद्ध रही है। संस्कृत भाषा में जो कुछ लिखा गया और लिखा जाता रहा, उस सबकी परम्परा बाद में आधुनिक भाषाओं में चलती रही है। इसीलिए भारतीय भाषाओं के साहित्य मे सांस्कृतिक समानता है। भुवनवाणी ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित रचनाएं इस तथ्य को उजागर करती हैं।

आर्य और द्रविड़ परिवार की भाषाओं का पारिवारिक विभाजन विदेशी विद्वानों ने किया है। इस विभाजन की ऐतिहासिक मीमांसा की जाए तो निष्कर्ष रूप में हमे दोनों परिवारों को भारतीय परिवार के रूप में मानना होगा। तुलनात्मक अध्ययन ही हमारी मूल धारणाओं को ठीक-ठीक पहचानने में सहायक हो सकता है। ऐसे प्रयास जितने अधिक होंगे राष्ट्र की मूल चेतना उतनी ही उजागर होगी।

डॉ० रामविलास शर्मा ने 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं' पुस्तक में भारतीय भाषाओं और साहित्य से सम्बन्धित समस्याओं पर ऐतिहासिक आधार पर विचार किया है। पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड —'बहुजातीय राष्ट्रीयता और साहित्य' है और द्वितीय खण्ड—'साहित्य में देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा' है। दोनों ही खण्ड एक प्रकार से भारतीय साहित्य की पहचान करवाते हैं और इसमें भारतवर्ष की सभी आधुनिक भापाओं को पारिवारिक रूप में अलगाया नहीं गया है। देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा में भारतवर्ष की प्रायः आधुनिक भाषाओं को सम्मिलित किया गया है। उनकी कुछ मान्यताएं इस प्रकार हैं :

> किसी भी भाषा के साहित्य का निर्माण अन्य भाषाओं के साहित्य से नितान्त अलगाव की अवस्था में नहीं होता। लोग यूरोपियन साहित्य की बात करते

है, भारतीय साहित्य की बात भी करते हैं। यूरुप राष्ट्र नहीं है भारत राष्ट्र है। लोग भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की बात करते है, यूरुप के स्वाधीनता आन्दोलन की बात नही करते, शायद उन्हें ऐसे आन्दोलनों की जरूरत नही पड़ी। यूरुप में साझा मंडी है पर यूरुप का कोई राष्ट्रीय अर्थ-तंत्र नहीं है। यूरोपियन साहित्य यूरुप का राष्ट्रीय साहित्य नही है। भारतीय साहित्य भारत का राष्ट्रीय साहित्य है।[1]

और भी—

जो लोग भारत में अनेक जातियों का अस्तित्व नही मानते, वे भी यहां अनेक भाषाओं का अस्तित्व मानते है। साहित्य मे इन भाषाओ की प्रतिष्ठा एक ही समय पर क्यो नही हुई ? यह प्रश्न करते ही भारत के विभिन्न प्रदेशो में सामाजिक विकास की विषम गति स्पष्ट हो जाएगी। विभिन्न प्रदेशो मे सामाजिक विकास की विषम गति वास्तव में यहा की जातियो के सास्कृतिक विकास की ही विषम गति है। अत वह बहुजातीय राष्ट्रीयता के विकास की विषम गति भी है। किसी एक भाषा के साहित्य का इतिहास लिखते समय इस समस्या पर विचार करना आवश्यक होगा, भारतीय साहित्य का इतिहास लिखते समय भी।[2]

डॉ० रामविलास शर्मा इस तरह 'भारतीय भाषाओ और भारतीय साहित्य की सकल्पना' को ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर स्पष्ट करते है और उनका विचार है कि –

साहित्य के इतिहास विवेचक बहुजातीय राष्ट्रीयता अथवा साहित्य में देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा पर जरा कम विचार करते है। उनकी परम्परा के अनुयायी कह सकते है, साहित्य के लिए ऐसी समस्याए है ही नही, न मूल समस्याएं है न गौण समस्याए है। हो सकता है, साहित्य के लिए न हो, पर साहित्य के इतिहास के लिए अवश्य है। शाश्वत मूल्यो वाले लोकोत्तर आनन्द देने वाले, विशुद्ध कलात्मक सौन्दर्य वाले साहित्य का कहीं इतिहास होता है ? जहां साहित्य का इतिहास है वहां ऐसी समस्याएं भी होगी। चाहे भारतीय साहित्य का इतिहास लिखा जाये, चाहे हिन्दी साहित्य का, ऐसी समस्याओं पर विचार करना अनिवार्य है।[3]

भारतीय भाषाए और भारतीय साहित्य की समस्याओं का स्वरूप 'तुलनात्मक अध्ययन' से स्पष्ट होता है। इसमे हम भाषाओं का अतरंग ठीक से जान सकते है। राम, कृष्ण, शिव ही नही, अनेक पौराणिक पात्रों और ऐतिहासिक पात्रों, जो भारत की समस्त भाषाओं के साहित्य में अभिव्यक्ति पाते रहे है, से हमारा परिचय होता है और हमारी समझ बढ़ती है। हमारा राष्ट्र मात्र भाषाओं के आधार पर विभाजित नही हो सकता। अभिव्यक्ति के ये विविध रूप भौगोलिक

हैं, किन्तु इनमें ऐतिहासिक धारा समान रूप से प्रवाहित है। इतिहास की विकृत व्याख्याएं कर देशवासियों को विभाजित करने का प्रयास विदेशियों ने किया है। हमारा इतिहास ठीक से एक क्रम में लिखा जाए तो उससे देश में पुनः एकता की भावना बढ़ेगी और इससे राष्ट्र बलवान होगा।

इतिहास में विकास का एक अर्थ स्वाधीनता की धारणा में विकास भी है। इतिहास 'समय की पहचान' बढ़ाने में हमारी सहायता करता है और चिन्तन के लिए हमें उत्तेजित भी करता है। इतिहास वास्तव में अतीत, वर्तमान और भविष्य को जोड़ने वाली शृंखला है। उक्त शृंखला में हम कहां पर स्थित हैं और हमें क्या करना है, यह सब बतलाने वाला इतिहास ही है। और हमारे देश का यह इतिहास एक भाषा को आधार बनाकर नहीं लिखा जा सकता। हमें भारत की समस्त भाषाओं को इस कार्य के लिए महत्वपूर्ण मानना होगा। किसी भाषा का सम्मान करने का अर्थ होता है उस भाषा को बोलने वाले समुदाय का सम्मान। हिन्दी भाषा का सम्पर्क यदि भारतवर्ष की अन्य भाषाओं से निरतर बढ़ता रहेगा तो निश्चित ही हिन्दी के माध्यम से राष्ट्र की भावनाओं की अभिव्यक्ति में सहायता मिलेगी। तुलनात्मक अध्ययन का यह महत्कार्य है।

प्रथम खण्ड

# हिन्दी-मराठी

# मराठी और पड़ोस की भाषाएं

डॉ० राजमल बोरा

मराठी भाषा को आर्य परिवार की भाषाओं के अन्तर्गत रखा गया है। वस्तुतः दक्षिण भारत का भाग होने पर भी महाराष्ट्र को दक्षिण भारत का भाग नहीं माना जाता। आर्य परिवार की भाषाओं में महाराष्ट्र दक्षिण में है। भाषा परिवार के भेद के कारण महाराष्ट्र उत्तर भारत से जुड़ा हुआ है।

मराठी का सम्बन्ध महाराष्ट्री प्राकृत से बतलाया जाता है। ऐतिहासिक रूप में मराठी को महाराष्ट्री प्राकृत का विकसित रूप मानना चाहिए। किन्तु महाराष्ट्री प्राकृत और मराठी के बीच के अन्तराल को जोड़ने वाले ऐतिहासिक सूत्रों का अभी तक उद्घाटन ठीक-ठीक नहीं हुआ है। इस विषय पर खोज अपेक्षित है।

डॉ० कृष्णचन्द्र आचार्य ने मार्कण्डेय के 'प्राकृत-सर्वस्वम्' ग्रन्थ का सम्पादन किया है। वे 'प्राकृत-सर्वस्यम्' का रचनाकाल 1560 और 1565 ई० के बीच मानते हैं।[1] अर्थात् इस ग्रन्थ की रचना सोलहवी शती में हुई। ग्रन्थ सस्कृत में लिखा गया है किन्तु उसमें विवेचन प्राकृत भाषाओं का है। प्राकृत की प्रायः सभी बोलियों का उल्लेख उसमें है। एक प्रकार से भारतवर्ष की भाषाओ का सर्वेक्षण उसमें है। यह सर्वेक्षण ग्रियर्सन और काल्डवेल से बहुत पहले का है। इसमें भारतवर्ष की भाषाओं का पारिवारिक भेद नहीं है। आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार जैसा कोई विभाजन नहीं हे। सम्पूर्ण भारत को राष्ट्र के रूप में इकाई मानकर प्राकृत के विविध भौगोलिक नामों का उल्लेख इस ग्रन्थ में है।

हमें मार्कण्डेय के भाषा सर्वेक्षण पर विचार करना चाहिए। उसने कुल सोलह भाषाओ पर विचार किया है। वर्गीकरण इस प्रकार है —

भाषा : महाराष्ट्री/शौरसेनी/प्राच्या/अवन्ती/और मागधी/—5
विभाषा : शाकारी/चाण्डाली/शाबरी/आभीरी/और टाक्की/—5
अपभ्रंश : नागर/ब्राचड़/और उपनागर/—3
पैशाची : कैकयी/शौरसेनी/और पांचाली/— 3

इन सोलह भाषाओ पर ही मार्कण्डेय ने विचार किया है। यों तो भाषा के

अन्तर्गत आठ, विभाषा के अन्तर्गत सात, अपभ्रंश के अन्तर्गत 27 तथा पैशाची के अन्तर्गत 11—भाषा के विविध रूपों का उल्लेख उसने किया है किन्तु उसके विवेचन का आधार प्रधान रूप से 16 भाषाएँ ही हैं। कुल 20 पाद उक्त ग्रन्थ में है। इनमें विवेचन क्रम इस प्रकार है—

प्रथम से आठवें पाद तक : महाराष्ट्री (1) नौवां पाद : शौरसेनी (2) दसवां पाद : प्राच्या (3) ग्यारहवां पाद : अवन्ती (4) (इसी के साथ बाह्लीकी का अन्तर्भाव है); बारहवां पाद : मागधी (5) (इसी के साथ अर्धमागधी का अन्तर्भाव है), तेरहवां पाद : शाकारी (6) चौदहवां पाद : चाण्डाली (7) पन्द्रहवां शाबरी (8) (इसी के अन्तर्गत औड्री का अन्तर्भाव है) और आभीरी (9) सोलहवां पाद : टाक्की (10) सत्रहवां पाद . नागर अपभ्रंश, (11) अठारहवां : व्राचड (12) और उपनागर (13) उन्नीसवां पाद : पैशाची-केकय (14) और बीसवां पाद • शौरसेनी (15) तथा पाचाली (16) [पैशाची के अन्य दो रूप]। भाषा से सम्बन्धित इन नामकरणो में विविधता है।

मार्कण्डेय ने भाषाओं के रूपगत भेद बतलाये है। सूत्रात्मक शैली में ही सब कुछ लिखा है। अपने मे पूर्व के आचार्यों का उल्लेख उसने किया है। सोलहवी शती में उसने 'प्राकृत-सर्वस्वम्' लिखा किन्तु उसने अपने समय की आधुनिक भाषाओ पर विचार नही किया। प्राकृत भाषा पर उसने उस समय विस्तार से लिखा है, जबकि प्राकृत के रूप प्रचलित नही थे। संस्कृत के ग्रन्थो मे संस्कृत के आचार्यों ने उसके समय तक प्राकृत भाषा के विविध रूपों को जिस क्रम में रखकर और जिस प्रकार से विचार किया है, उसी क्रम को सामने रखते हुए मार्कण्डेय ने प्राकृत के विवेचन को अति संक्षेप मे पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न किया है। बात यह है कि संस्कृत भाषा तो सारे भारतवर्ष में व्याप्त थी किन्तु देश-भेद से प्राकृत भाषाओ के विविध रूप देश में प्रचलित रहे। अत: संस्कृत के आचार्यों ने देश-भेद के आधार पर प्राकृत के भेदों पर समय-समय पर विचार किया है। इनमें एकरूपता रहना सम्भव नही था। प्रयोजन-भेद से, देश-भेद से, काल-भेद से एवं व्यावहारिक कारणों से—इन भाषाओं में अन्तर रहा है और इस अन्तर को संस्कृत के आचार्यों ने जैसे अनुभव किया है, उसे लिखा है। एक अर्थ में प्राकृतों के देशगत, बोलीगत नाम संस्कृत भाषा के अनुरूप हैं। मार्कण्डेय ने अपनी दृष्टि मे प्राकृत के विविध रूपों का उल्लेख कर विषय का उपसंहार किया है। ग्रन्थ का नाम 'प्राकृत-सर्वस्वम्' सार्थक है। सब प्रकार की प्राकृतों के नाम प्राय: उसमें आ गये है।

संस्कृत भाषा के साथ देशगत, बोलीगत नाम नहीं जुड़े है। प्राकृतों के साथ ऐसे नाम मिलते हैं और ये नामकरण संस्कृत के आचार्यों द्वारा किये गये हैं। बात इतनी है कि उन्होंने सभी को प्राकृत कहा है। 'प्राकृत-सर्वस्वम्' के अन्तर्गत सभी आ जाते है।

587

100/-

सभी प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत को साहित्यिक स्थान प्राप्त हुआ। उसे महत्त्वपूर्ण माना गया और राजदरबार की भाषा के रूप में उसका आदर हुआ है। उसी का व्याकरण विस्तार से लिखा गया है। पश्चिम में (गुजरात में) हेमचन्द्र ने 'सिद्ध हैमशब्दानुशासनम्' (1143 ई०)[2] की रचना की और पूर्व में (उड़ीसा) में मार्कण्डेय ने 'प्राकृत-सर्वस्वम्' (1560-1565 ई० के बीच) की रचना की। दोनों ने महाराष्ट्री प्राकृत को महत्त्वपूर्ण माना है।

महाराष्ट्री प्राकृत साहित्यिक प्राकृत है। उसमें लौकिक वाङ्मय विपुल परिमाण में लिखा गया है। प्राकृत भाषा के लालित्य की प्रशंसा दण्डी ने चौथी शताब्दी में की है। मार्कण्डेय 'प्राकृत-सर्वस्वम्' में महाराष्ट्री प्राकृत के सम्बन्ध में लिखते समय सबसे पहले दण्डी का स्मरण करता है। 'काव्यादर्श' की पंक्तियाँ उद्धृत कर महाराष्ट्री प्राकृत की महत्ता ज्ञापित करता है। उसने सोलह भाषाओं मे महाराष्ट्री प्राकृत को सर्वप्रथम स्थान दिया। उसका कारण बतलाते हुए वह लिखता है[3]—

अत: षोडशधा भिन्न भाषा लक्ष्म प्रचक्ष्महे।
वेधा विदग्धैस्य शस्तत्तद्देशानुसारत: ॥7॥

तन्त्र सर्वभाषोपयोगित्वात् प्रथमं महाराष्ट्री भाषा अनुशिष्यते। यथाह परमाचार्यो दण्डी —

महाराष्ट्राश्रयां प्रकृष्टं प्राकृतं विदु:।
सागर : सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥ इति ॥

(काव्यादर्श 1.39)

महाराष्ट्र की आज जो भौगोलिक सीमाएँ हैं, उसका राजनीतिक रेखांकन सबसे पहले देवगिरि के यादव राजाओं के समय में मिलता है। अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण से पूर्व यादव राजा रामचन्द्र देव के समय में—यादव राजाओं के राज्य की जो सीमाएँ थीं उसमें आज के सम्पूर्ण महाराष्ट्र की सीमाएँ प्राय: आ जाती हैं। उत्तर में नर्मदा और दक्षिण में कृष्णा और तुंगभद्रा तक महाराष्ट्र का विस्तार रहा है। यादव राजाओं के समय मे मराठी भाषा ने अपना साहित्यिक रूप प्राप्त कर लिया था। 'ज्ञानेश्वरी' और 'लीळाचरित्र' जैसी श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियाँ यादव काल की हैं। वस्तुत: यादवों से पूर्व मराठी भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप पर हमें विचार करना है।

यादवों से पूर्व चालुक्यों का शासन था। चालुक्यों के पूर्व राष्ट्रकूटों का और राष्ट्रकूटों से पहले वाकाटकों का शासन था। बहुत पीछे जाते हैं तो सातवाहनों का शासन मिलता है। उससे पीछे जाये तो महाभारत तथा रामायण के काल में जाना होगा। वह प्राक् इतिहास है। हम सातवाहनों से आरम्भ करें। सातवाहनों की राजधानी पैठण (प्रतिष्ठान) नगरी रही है, जो गोदावरी के तट पर है। पैठण

औरंगाबाद के निकट 32 मील दक्षिण में है। सातवाहनों का शासन ई० पू० 230 से आरम्भ हुआ और इस वंश ने 450 वर्षों तक शासन किया।[4] सातवाहनों के समय में इस क्षेत्र में प्राकृत भाषा रही है। इसी प्राकृत को महाराष्ट्री प्राकृत कहा गया है। सातवाहनों के समय से यादवों के समय तक के अन्तराल के भाषा सम्बन्धी सूत्रों की खोज हमें करनी है। यह काल लगभग एक हजार वर्षों का है।

सातवाहनों के काल की महाराष्ट्री प्राकृत से यादव काल की मराठी के आपसी सूत्रों का पहचानना हमारा प्रयोजन है।

श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े एवं प्रो० ज्यूल ब्लॉख आदि विद्वानों ने मराठी भाषा के स्वरूप पर विचार किया है। उन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत से मराठी का सम्वन्ध जोड़ा है।

महाराष्ट्र में प्राकृत भाषा का उत्कर्ष हुआ है। सातवाहनों के काल से पुल-केशिन द्वितीय के काल तक प्राकृत भाषा (ईसा की सातवी शती तक) यह उत्कर्ष रहा है। पुलकेशिन द्वितीय के समय से फिर संस्कृत भाषा का महत्व बढ़ता गया है। सातवाहनो के पहले संस्कृत थी और पुलकेशिन द्वितीय के बाद पुनः संस्कृत प्रबल हो गयी। ऐतिहासिक रूप में प्राकृत का काल बीच का है।

मराठी भाषा ऐतिहासिक क्रम में विषय-वस्तु की दृष्टि से संस्कृत से जैसे सीधे जुड़ती है, वैसे प्राकृत से नही जुड़ती। ऐसा क्यों है? इस पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

बात यह है कि मराठी का भाषिक स्वरूप प्राकृत भाषा से उद्भूत प्रतीत होता है किन्तु मराठी का उपलब्ध प्राचीनतम साहित्य पारम्परिक रूप में सीधे संस्कृत वाङ्मय से जुड़ा हुआ है। ज्ञानेश्वरी, चक्रधर और म्हाइभट—संस्कृत जानते थे। वे प्राकृत जानते थे या नही? हम इसका ठीक उत्तर नहीं दे सकते। उनकी मराठी में प्राकृत के रूप है, इसे हम स्वीकार कर सकते है। और यह खोज का विषय है। ज्यूल ब्लॉख ने इस प्रकार की खोज की है। ज्यूल ब्लॉख के बाद ऐसा प्रयत्न किसी और ने किया हो, यह मेरी जानकारी में नहीं है।

ज्यूल ब्लॉख ने अपनी पुस्तक में मराठी का प्राकृत के साथ सम्बन्ध जोड़ते हुए अपने विचार लिखे हैं। वह लिखता है—

"महाराष्ट्री प्राकृत का कई शताब्दियों तक वाङ्मय भाषा के रूप में उपयोग हुआ है। इस नाते मराठी का प्राकृत के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना ठीक होगा। इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिए। वैयाकरणों की ओर से इसकी पुष्टि हुई है। महाराष्ट्र में काव्य भाषा के रूप में प्राकृत का जब से उद्भव हुआ, उसी समय से भरत ने शौरसेनी को जो महत्ता प्रदान की थी, वह घटती गयी। छठी शती तक दंडी ने (ज्यूल ब्लॉख दंडी का समय छठी शती मानते है। पीछे मैंने जयशंकर त्रिपाठी के आधार पर दंडी का समय चौथी शती दिया है) महाराष्ट्री को उत्तम

प्राकृत के रूप में स्वीकार किया और वैयाकरणों ने प्राकृत भाषा के लक्षण महाराष्ट्री प्राकृत को आधार मानकर लिखना शुरू कर दिया। हेमचंद्र की देशी नाममाला में प्राकृत और मराठी के सम्बन्ध को दर्शाने वाले उत्तम उदाहरण मिलते हैं। हेमचन्द्र गुजरात में हुआ और उसके कोष में पाये जाने वाले बहुत से शब्द गुजराती और मराठी से सम्बन्ध रखने वाले मिलते हैं।[5]

ज्यूल ब्लॉख मराठी भाषा की भौगोलिक सीमाएँ बतलाते है। उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत से महाराष्ट्र का सम्पर्क ज्ञापित करते हैं। वे मानते हैं कि मराठी वस्तुतः मूल रूप में (भौगोलिक कारण से कहना चाहिए) द्रविड़ आधार लिये हुए है। इसीलिए वह आर्य परिवार की अन्य भाषाओं से भिन्न भी है। ऐसी विशेषताओं को उजागर करते हुए वे लिखते हैं—

"मराठी स्वयं द्रविड़ मूल से सम्बन्ध रखने के नाते उसमें स्थानीय द्रविड़ अवशेष स्पष्ट दिखलायी देते हैं। उनमें से कुछ अवशेष सारे भारतवर्ष में प्राचीन काल से सभी आधुनिक आर्य परिवार की भाषाओं में समान हैं। उदाहरणार्थ मूर्द्धन्य ध्वनियों का एक नया वर्ग, ईषत्स्पृष्ट स्पर्शों का अभाव (देखिए LSI मुंड-दा० पृ० 280-291), एक सामान्य विभक्ति का निष्पन्न होना और उसे दोनों वचनों में समान रूप में शब्दयोगी अव्यय के रूप में जुड़ जाना, षष्ठी का उपयोग सम्बन्ध विशेषण के रूप मे होना—इन सबको छोड़ दे तब भी मराठी में ऐसे दो प्रकार के उच्चारण प्रचलित है जिसके कारण वह अन्य आर्य परिवार की भाषाओं से भिन्न हो जाती है और वे रूप पड़ोसी की द्रविड़ परिवार की भाषाओं में ही मिलते हैं। उनमें से एक अर्थात् कण्ठ मूलोद्भव स्वरों पूर्व अर्धस्पर्श तालव्यों के तालव्यत्व का लोप है। मराठी-तेलुगु में यह प्रवृत्ति समान रूप से मिलती है। दूसरी बात आदि 'ए' और 'ओ' दोनों मे व्यंजन श्रुति के लक्षण 'ये' और 'वो' के रूप में मिलते हैं। यह प्रवृत्ति सभी द्रविड़ भाषाओं मे समान रूप से मिलती है।"[6]

ज्यूल ब्लॉख की पुस्तक की एक विशेषता यह भी है कि उसने मराठी शब्दों की व्युत्पत्ति सूची दी है। इस सूची को ध्यान से देखा जाये तो उसमें मराठी शब्दों से साम्य रखने वाले अन्य भारतीय भाषाओं के (हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, प्राकृत, संस्कृत, सिंधी, बंजारा आदि) शब्द भी हैं।

ज्यूल ब्लॉख की पुस्तक पढ़ने के बाद लगता है कि मराठी संस्कृत की तुलना में प्राकृत भाषा के अधिक निकट है। व्युत्पत्ति सूची में आर्य परिवार की अन्य भाषाओं के जो समान रूप दिये गये हैं, उन्हें देखने से लगता है कि आधुनिक भाषाओं (मराठी, गुजराती, सिंधी, पंजाबी, हिन्दी आदि) में काफी समानता है। यह समानता ध्वनिगत और रूपगत दोनों है। लगता है हमारी आधुनिक भाषाएं संस्कृत की तुलना में प्राकृतों के अधिक निकट हैं।

विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में उसकी परम्परा

को बतलाते हुए लिखते हैं—

"सातवाहनों के राज्यकाल में राज्यकर्ता प्राकृत भाषा-भाषी थे, इससे महाराष्ट्री भाषा को प्रोत्साहन मिला। प्रोत्साहन का फल इतना ही पाया जाता है कि सौ-दो सौ महाराष्ट्री कवि सिर्फ गुनगुनाना सीखे। हाल-शालिवाहन ने 'गाथा-सप्तशती' में कई महाराष्ट्री कवियों की रचनाओं के उद्धरण दिये हैं। काव्य छोड़ दें तो शास्त्र, व्याकरण, मीमांसा, गणित, ज्योतिष जैसे गहन विषयों पर महाराष्ट्री में एक भी पंक्ति नही लिखी गयी। वही गौडवहो, कर्पूरमंजरी आदि सस्ते साहित्य की चार-पांच बड़ी कहलाने वाली रचनाएं महाराष्ट्री की ग्रन्थ सम्पत्ति है, पर ये चार-पांच रचनाएं भी तब की है जब महाराष्ट्री अन्तिम सांसे गिन रही थी, तब की नही जब वह पूर्ण यौवन मे थी। जैन-महाराष्ट्री भिन्न भाषा थी इसलिए उसके धर्म-विषयक ग्रथों का समावेश नही किया जा सकता। संस्कृत नाटकों में उच्च वर्ग की स्त्रियो से जो पद्य कहलाये गये है वे इतना ही दिखलाते हैं कि महाराष्ट्री भाषा में सुन्दर पद्य रचना हो सकती थी। उच्च कुल की स्त्रिया महाराष्ट्री इसलिए व्यवहार में लाती थी कि भारत के प्रायः समस्त राजा महाराष्ट्रिक स्त्रियों से विवाह करना गौरव की बात समझते थे—वह भी इस कारण कि उस काल में महाराष्ट्रिक या महाराजिक जनों का वंश अत्यन्त शुद्ध माना जाता था। महाराष्ट्रिको की भाषा का यही विस्तार था। वाङ्मय-विपुलता में वह भी नष्ट हो गयी। शक संवत् 500 (578 ई०) के लगभग महाराष्ट्री का पतन होना आरम्भ हो गया। शक सवत् 500 तक शिलालेख, ताम्रपट, काव्य ग्रंथ प्राकृत भाषा में रचे जाते थे, चालुक्यो की पताका फहराते ही वे संस्कृत में लिखे जाने लगे।"[7]

महाराष्ट्री प्राकृत का पतन क्यों हुआ ? इसके कारणों की पूरी जांच आवश्यक है। जो कुछ कहा गया और लिखा गया है, उससे पूर्ण संतोष नहीं होता। राजवाड़े जी कहते हैं: प्राकृत का स्थान सस्कृत ने लिया। तो संस्कृत ने कौन सा स्थान लिया ? वह शिलालेखों की भाषा हो गयी, ताम्रपटो की भाषा हुई, काव्य-ग्रथों की भाषा हो गई। किन्तु जनसाधारण—सामान्य जनता—अपने व्यवहार में शक सवत् 500 में ही क्या मराठी भाषा का व्यवहार करती थी ? इस सम्बन्ध में राजवाड़े जी चुप है। सस्कृत का स्थान प्राकृत ने लिया और पुनः प्राकृत का स्थान संस्कृत ने लिया। महाराष्ट्र में संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा रही होगी, ऐसा नहीं कह सकते। ठीक इसी प्रकार अपने उन्नत काल मे—सातवाहनों के समय में—भी प्राकृत भाषा, सामान्य लोगो की बोलचाल को भाषा रही होगी, इसमें सन्देह है। प्राकृत भाषा, राजभाषा थी, इसे हम स्वीकार करेंगे किन्तु व्यवहार में क्या वह सामान्य लोगों की भाषा थी ? इसकी जांच करना आवश्यक है।

महाराष्ट्री प्राकृत एकमात्र प्राकृत भाषा का वह रूप है, जिसे स्तरीय प्राकृत कहा गया, उसे वैयाकरणो ने मान्यता प्रदान की। प्राकृत का यह रूप महाराष्ट्र में

बना। प्राकृत का भौगोलिक विस्तार हुआ। इस विस्तार में वह महाराष्ट्र में वह पहुंची है। महाराष्ट्र में ही उसे राज्य भाषा के रूप में स्वीकृति मिली। इस स्वीकृति के कारण ही वह दरबार में आदर पाने लगी। और इसी नाते से प्राकृत में जो कुछ लौकिक वाङ्मय रचा गया उसे संस्कृत के आचार्यों ने स्वीकार किया। संस्कृत भाषा के लौकिक वाङ्मय लिखने वाले श्रेष्ठ कवियों ने प्राकृत भाषा—विशेष रूप से महाराष्ट्री प्राकृत भाषा—को परम्परा के रूप में अपनाया। संस्कृत वाङ्मय में शृंगार रस की जो परम्परा चली है, मुक्तक काव्यों का जो विकास हुआ है या नीतिपरक सूक्तियां लिखी गयी है और इसी प्रकार चरित-काव्यों की रचनाएं हुई हैं—उन सबमें प्राकृत वाङ्मय की छाया है। संस्कृत भाषा ने प्राकृत भाषा के वाङ्मय को (महाराष्ट्री प्राकृत) अध्ययन की सामग्री माना। उन्होंने प्राकृत ग्रंथों के अनुवाद सस्कृत में किये। इन अनुवादों के कारण संस्कृत भाषा प्राकृत के निकट पहुच गयी। एक प्रकार से प्राकृत भाषा का संस्कृतीकरण, संस्कृत में हुआ। प्राकृतों के संस्कृत अनुवाद को प्राकृतों का सस्कृतीकरण कहना चाहिए। प्राकृतों के संस्कृतीकरण के कारण लौकिक संस्कृत बलवान् हुई है। इस तथ्य को उजागर करने की आवश्यकता है।

अनुवाद विषय की महत्ता के कारण होते हैं। अनुवाद के कारण एक भाषा के ज्ञान का विस्तार दूसरी भाषा में होता है। मूल भापा में तो वह ज्ञान रहता ही है किन्तु अनूदित भापा में उस ज्ञान का हस्तान्तरण हो जाने से दूसरी भाषा (जिसमें अनुवाद किया गया है) भी बलवान् होती है। इस प्रकार से विचार करने पर हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर भी जाता है कि प्राकृत ग्रंथों के अनुवाद तो संस्कृत में हुए किन्तु संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद प्राकृतों में भी हुए हों तो उस परिमाण में नहीं हुए जिससे कि प्राकृत भाषाएं आगे बनी रहतीं। संस्कृत भाषा जानने वाले प्राकृत जानते थे किन्तु प्राकृत जानने वाले संस्कृत जानते थे क्या? और जानते थे तो संस्कृत के उत्तम ग्रंथों का अनुवाद उन्होंने प्राकृतों में क्यों नहीं किया? इस विषय में जांच आवश्यक है। हम यह मानते हैं कि जिस भाषा में अनुवाद होता है, वह भाषा व्यावहारिक रूप में जीवित है और चूंकि संस्कृत में प्राकृत ग्रंथों के अनुवादों की परम्परा निरन्तर चलती रही इसलिए प्राकृत की तुलना में संस्कृत को व्यावहारिक रूप में अधिक जीवित मानना चाहिए।

संस्कृत में जिस प्रकार शिक्षा-ग्रंथों की (विशेष रूप से व्याकरण आदि) रचनाएं हुई हैं, वैसे प्राकृत भाषा में रचनाएं नहीं हुई। यही नहीं, प्राकृत के शिक्षा ग्रंथ संस्कृत में ही रचे गये हैं। प्राकृत सीखने के लिए संस्कृत के शिक्षा ग्रंथ पढ़ना आवश्यक है।

श्री विनायक लक्ष्मण भावे ने 'महाराष्ट्र सारस्वत' की रचना 1901 ई० मे की है। बाद में उसके संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुए हैं। एक

प्रकार से यह मराठी साहित्य का इतिहास है। इसके पृष्ठों की संख्या 1000 से कुछ अधिक है। इस ग्रंथ में मराठी भाषा के उद्भव के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह प्रश्न-चिह्नों के रूप में ही है। उपलब्ध तथ्यों को एक क्रम में रखकर उनका सांस्कृतिक मूल्यांकन भावेजी ने बड़े ही आत्मीय रूप में किया है। मराठी भाषा के उद्भव के सम्बन्ध में श्री भावे लिखते हैं—

"उत्तर भारत से जो लोग पहले इस ओर (महाराष्ट्र मे) आये संभवतः वे नाग लोग थे। उनकी अपनी मूल संस्कृति थी। किन्तु ये आर्यों की भाषा एवं संस्कृति से प्रभावित थे। यहाँ आकर इन्होंने कुछ गाँव बसाये। नागोठणे/पनवेल (< पन्नग पल्ली)/नागपुर/नागांव/नागपाडा जैसे नाम इस तथ्य को आज भी सूचित करते हैं। इनकी सस्कृति यहां के श्वपचों से ऊंचे स्तर की थी किन्तु आर्यों से कुछ नीची थी। सभवतः ये लोग महाभारत के युद्ध के बाद, जनमेजय के यज्ञ के पश्चात् कहना चाहिए, यहां आये हों। इसके पश्चात् पाणिनि के अनन्तर शक संवत् से पूर्व छठी या सातवीं शती के आसपास राष्ट्रिक, वैराष्ट्रिक एव महाराष्ट्रिक तीन संघ या लोग इम ओर आये और बाद मे उन सबके सम्मिलन से यहां 'मरहट्ट' या 'मराठा' लोगों का उद्भव हुआ। नाग लोग वैदिक अपभ्रंश बोलते थे और महाराष्ट्रिक यहां की महाराष्ट्री बोलते थे। इन दोनों के मिश्रण से मराठी भाषा का उद्भव हुआ। यह सब कैसे हुआ? क्या हुआ? इसके प्रमाण ठीक-ठीक उपलब्ध नही है।"[8]

श्री विनायक लक्ष्मण भावे के विचार श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े के विचारों से मिलते है। वे भी नाग लोगों के आगमन को स्वीकार करते है। वे लिखते है--

"महाराष्ट्रिको का नागों से जब दक्षिण में संगम, सहवास तथा सहगमन हुआ तब नागों की प्राचीन वैदिक अपभ्रंश तथा महाराष्ट्रिको की महाराष्ट्री—इन दो अपभ्रष्ट आर्य भाषाओ का सम्मिलन हुआ और वह मराठी भाषा उदित हुई जिसमें दोनो की विशेषताएं दृष्टिगोचर होती है। मराठी में जो ऐसे प्रयोग, प्रत्यय तथा क्रिया रूप पाये जाते है जो महाराष्ट्री में नहीं परन्तु वैदिक भाषा में है, जो संस्कृत में नही परन्तु वैदिक भाषा मे है, उसका कारण नागों की वह वैदिक अपभ्रंश भाषा है जो महाराष्ट्री से अधिक प्राचीन है।"[9]

राजवाड़े जी के अनुसार मराठी तो सीधे वैदिक अपभ्रश से जुड़ती है। उसे प्राकृतों के माध्यम से विकसित होने वाले क्रम को वे पूरे रूप में स्वीकार नही करते। उनके विचारों को ध्यान से पढ़ जायें तो लगता कि महाराष्ट्री प्राकृत—अपने उत्कर्ष काल मे—महाराष्ट्र में बोलचाल या व्यवहार की भाषा नही रही। जैसे लौकिक संस्कृत किसी भी प्रदेश की बोली भाषा नही रही, ठीक उसी प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत भी महाराष्ट्र में बोली भाषा नहीं रही। वह तो प्राकृतों मे मानक

भाषा (स्तरीय भाषा कहिए) थी और जिसको प्राकृत भाषा के प्राय सभी प्रचलित रूपो में विशेष स्थान दी जाने वाली भाषा कहना चाहिए ।

सच तो यह है कि सातवाहनो के समय मे बोलचाल की भाषा मराठी रही होगी, यह अनुमान किया जा सकता है । इस अनुमान के प्रमाण मे दो बातें स्पष्ट है । एक तो यह कि महाराष्ट्री प्राकृत बोलचाल की (बोली रूप में प्रचलित भाषा) भाषा कभी नही रही । वह सदैव साहित्यिक और काव्य भाषा रही । दूसरा प्रमाण यह है कि सस्कृत भाषा भी बोली भाषा नही रही है । अत तीसरा विकल्प हमारे सामने यही रह जाता है कि वह मराठी भाषा रही होगी । चाहे उसका नामकरण उस समय न हुआ हो ।

इतनी बात सत्य है कि सातवाहनो के काल मे मराठी भाषा का मूल ढाचा रहा होगा । वह बोली रूप मे होगा । उसमे दक्षिण की भाषा के सस्कार अधिक होगे । क्या कारण है कि पश्चिमी घाट का आधा किनारा (बम्बई मे गोवा तक) मराठी भाषा से सम्बन्धित है और ठीक उसी के समान्तर पूर्वी घाट का आधा किनारा श्रीकाकुलम, विशाखापट्टनम् से नेल्लूर-गुडूर तक का आधा किनारा तेलुगु भाषा से सम्बन्धित है । एक आर्य परिवार की भाषा है और दूसरी द्रविड परिवार की । ऐसा क्यो ? पश्चिमी किनारा उत्तर मे जुडे और पूर्वी किनारा दक्षिण मे जुड़े । भाषागत भेद के कारणो की खोज आवश्यक है ।

डा० बी० एच० कृष्णमूर्ति लिखते है :

"ई० पू० पाचवी शती से ई० के पश्चात् 5वी शती तक (लगभग एक हजार वर्ष तक) आर्य सस्कृति तलुगु भाषी प्रदेश में प्राकृत एव सस्कृत भाषा के माध्यम से प्रसार पाती रही है । सातवाहन काल के अभिलेखो के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि होती है । श्री के० ईश्वरदत्त ने आन्ध्रप्रदेश के सामाजिक एव राजनीतिक इतिहास के विवरण मे यह सब बतलाया है । बहुत से प्रशासन सम्बन्धी नाम और विभाग सातवाहन काल के है—हार आहार/रट्ठ/मडल/राष्ट्र / विषय/राज्य / सीमा/ भोग - जैसे रूप सस्कृत भाषा से सम्बन्धित है । केवल/नाडु/ एव /पाडी/ स्थानीय है । स्थानीय रूप बाद के अभिलेखो मे मिलते है । इसी प्रकार व्यक्तियो को तथा मन्दिरो को जो दान-पत्र दिये गये है, उनकी भाषा भी प्रधान रूप से अ-तेलुगु रही है..."[10]

डॉ० बी० एच० कृष्णमूर्ति तलुगु भाषा के अस्तित्व को ई० पू० 1000 वर्ष तक स्वीकार करते है । इस दृष्टि से सातवाहनो के काल मे तेलुगु भाषा के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए । सातवाहनो के राज्य का विस्तार पूर्वी तट के प्रदेशों तक तेलगुभाषी प्रदेश पर कहना चाहिए था ? ऐसा हुए बिना सातवाहनो की शासकीय शब्दावली आध्रदेश के स्थानो मे कैसे मिलती ? सातवाहनो की राजधानी पश्चिम मे थी । इसका तात्पर्य यह हुआ कि सातवाहनो के राज्य की सीमाओ में

शासकीय भाषा एक ही प्रकार की थी। दानपत्रों की भाषा या अन्य अभिलेखों की भाषा महाराष्ट्र और आन्ध्रप्रदेश दोनों ही स्थानों पर समान थी। आन्ध्रप्रदेश की जनता उस समय में यदि तेलुगु भाषा का व्यवहार करती थी तो महाराष्ट्र की जनता मराठी भाषा का व्यवहार करती थी। मराठी-तेलुगु का अन्तर उस समय में विशेष नहीं रहा होगा।

सातवाहनों के राज्य की सीमाएं हम ठीक-ठाक नहीं बता सकते। उत्तर तथा दक्षिण में पूर्व-पश्चिम में उनका विस्तार कितना था ? यह सब अभी ठीक से ज्ञात नही है। इतनी बात सच है कि उनके शासन-काल में राज्य-स्तर पर संस्कृत तथा प्राकृत दोनो भाषाओं का उपयोग होता था। उनकी राजधानी पश्चिम मे थी। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के संवत् वर्ष 53, अंक 3-4 में श्री सूर्यनारायण व्यास ने 'सातवाहन राजवंश'—शीर्षक लेख लिखा था। उसमें नासिक के निकट त्रिरश्मि (त्रिरराहु) पर्वत की तीसरी गुफा में उत्कीर्ण अभिलेख के आधार पर गौतमीपुत्र शातकर्णी के राज्य की सीमाओं के संकेत हैं। लिखा है—

"वह (गौतमीपुत्र शातकर्णी) हिमालय, सुमेरु और मंदर पर्वतों के समान सारवान् था। अतिक, अश्मक, मूलक, सुराष्ट्र, कुक्कुर, अपरांत, अनूप, विदर्भ, आकर और अवंति पर उसका राज्य था। उसके राज्य में विन्ध्य, ऋक्षवाने, पारियात्र सह्य, कृष्णगिरि, मच, श्री स्तन, मलय, महेन्द्र, श्वेतगिरि और चकोर पर्वत थे। तीन ओर से समुद्र उसके विस्तृत राज्य की सीमा थी, उसने क्षत्रियों के दर्प और अभिमान को चूर कर दिया था। शक यवन और पह्लवों का उसने संहार किया था और क्षहरात वश का तो उसने मूलोच्छेद ही कर दिया था।"[11]

इस राजा ने 56 वर्ष तक राज्य किया [ई० पू० 147-91; वि० पू० 91-34]।"[12]

सातवाहनों मे प्रथम सिमुक था और उसके शासन काल का आरभ ई० पू० 231 बतलाया गया है। कुल 30 शासकों ने ई० सन् 225 तक लगभग 460 वर्षों तक शासन किया है।[13] यदि इन कथनों को स्वीकार कर लें तब तो समस्त दक्षिण भारत पर सातवाहनो का शासन मान लिया जायेगा। अर्थात द्रविड़ भाषा परिवार का समस्त क्षेत्र सातवाहनो के राज्यों की सीमाओ का भाग होगा। सातवाहनो के राज्य का शासकीय केन्द्र (राजधानी कहिए) प्रतिष्ठान (पैठण) रहा है। उत्तर मे सातवाहन राजा अवन्ती तक और पूर्व में कलिंग की सीमाओं तक पहुंचे थे। मौर्य साम्राज्य के अनन्तर भारतवर्ष मे दूसरा प्रधान राज्य सातवाहनों का है। परम्परा के रूप में मौर्य साम्राज्य की अनेक विशेषताएं सातवाहनों को प्राप्त हुई हो। इस संबध मे इतिहास चुप है। भाषा की दृष्टि से प्राकृत भाषा स्वयं मौर्यों की देन है और मौर्यों के शासन काल में (स्वयं अशोक के भी) प्राकृत भाषा का उतना सम्मान नही हुआ जितना सम्मान सातवाहनों के काल में हुआ है। मौर्य

के राजनीतिक केन्द्र (पाटलिपुत्र) में तो प्राकृत भाषा भौगोलिक बोली रही है। महाराष्ट्र में वह भौगोलिक बोली नहीं रही है। महाराष्ट्र में उसे काव्यभाषा तथा दरबार की भाषा का स्थान मिला। अभिलेखों, ताम्रपत्रों, दानपत्रों, सभी शासकीय कार्यों में उस भाषा का उपयोग हुआ है। समस्त दक्षिण भारत में प्राकृत भाषा के प्रसार का कारण सातवाहनों का साम्राज्य है।

सातवाहनों को आन्ध्र या आन्ध्रभृत्य कहा गया है। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ० के० ए० शास्त्री लिखते हैं :

"उन्हें (सातवाहनों को) आन्ध्र इसलिए कहा जाता था कि वे आन्ध्र जाति के थे और जिस समय पुराण-सूचियों का संकलन हो रहा था उस समय संभवतः उनका शासन आन्ध्रप्रदेश तक सीमित था। दूसरा नाम आन्ध्रभृत्य पड़ने का कारण यह हो सकता है कि सातवाहन राजाओं के पुरखे मौर्य साम्राज्य की सेवा में थे और इस प्रकार अशोक के बाद उक्त साम्राज्य का सौभाग्य-सूर्य अस्त हो जाने पर वे पश्चिमी दक्कन में चले गये और वहां एक स्वतन्त्र राज्य कायम किया।"[14]

सातवाहन राजा आन्ध्र के थे, पूर्व के थे। बस गये पश्चिम में आकर और उन्होंने प्राकृत तथा संस्कृत भाषा को महत्त्व दिया। उस समय में तेलुगु—और मराठी - दोनों भाषाओं में ऐसी विभाजन रेखा नहीं थी। उन भाषाओं के अलगाव स्पष्ट नहीं हुए थे। तेलुगु द्रविड़ परिवार की भाषा और मराठी आर्य परिवार की भाषा---इस प्रकार का अलगाव बहुत बाद में हुआ।

सातवाहनों के शासन काल में पूर्व मे जब तेलुगु भाषा का अस्तित्व था (डॉ० बी० एच० कृष्णमूर्ति यही मानते है) तो पश्चिम में निश्चित ही मराठी भाषा रही होगी। किन्तु दोना ही स्थानों पर प्राकृत भाषा एवं सस्कृत भाषा मे काम-काज होता होगा। सातवाहनों का मूल केन्द्र पश्चिम में (महाराष्ट्र में) था। यहीं से उन्होंने शासन किया। इस नाते हमें यह मानना चाहिए कि मराठी भाषा की भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण भले ही सातवाहनो के काल में न हुआ हो किन्तु उसने उस समय में आकार ग्रहण कर लिया हो।

सातवाहनों के बाद में दक्षिण भारत में उनका राज्य अलग-अलग राज्यो में बंट गया। उत्तर पश्चिम में आभीरो का राज्य हुआ। कृष्णा-गुंटुर में इक्ष्वाकुओं का और महाराष्ट्र तथा कुन्तल में चुतुओं का राज्य हुआ, दक्षिण-पूर्व में पल्लवों का राज्य हुआ, जिनकी राजधानी कांचीपुरम् थी। ये सभी राज्य ऐतिहासिक रूप में पहले सातवाहनो से जुड़े हुए थे। बाद में सातवाहनों के पतन के बाद स्वतत्र हो गये, और भी छोटे-छोटे राज्य है, जिनका पूरा विवरण ठीक-ठीक उपलब्ध नहीं है। अलग-अलग राज्य हो जाने से स्थानीय भाषाओं का महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ता गया। भाषाओं का प्रचार-प्रसार राजधानियों के माध्यम से भी होता है। संस्कृत-प्राकृत भाषाएं सामान्य भाषा के रूप में तथा व्यावहारिक रूप में आदान-प्रदान की

भाषा के रूप में अनकहे ही (बिना घोषित किये ही) सब राज्यों में प्रश्रय पाती रही हैं। सातवाहनों के समय तक प्राकृत भाषा-समस्त दक्षिण भारत में प्रश्रय पाती रही किन्तु बाद में धीरे-धीरे संस्कृत ने उसका स्थान पुः ले लिया। यही नहीं बाद में दक्षिण भारत की अन्य भाषाएं भी अवसर पाकर प्रकाश म आने लगीं।

सातवाहनों के समय में महाराष्ट्र, आन्ध्र या कर्नाटक जैसे नाम प्रादेशिक अर्थ में और भाषाओं की अलग-अलग पहचान के रूप में प्रचलित नहीं थे। संभव है स्वयं महाराष्ट्री प्राकृत जैसा नाम भी बाद में प्रचलित हुआ हो। फिर भी महाराष्ट्री प्राकृत की रचनाएं उस समय की है। सातवाहनों के समय में भाषाओं का पारिवारिक भेद नही था। मराठी भाषा और तेलुगु-कन्नड़ भाषाएं पड़ोस की भाषाएं थीं। सातवाहनो के समय में इन भाषाओं के भौगोलिक अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए।

महाराष्ट्र के भौगोलिक जनपदो के नामों का स्पष्टीकरण श्री रघुनाथ महारुद्र भूसारी ने किया है। ये नाम सातवाहन काल के है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है

(1) असक अर्थात अश्मक : मराठवाड़ा के औरंगाबाद, बीड़, परभणी (आज के जिले) से सम्बन्धित प्रदेश अश्मक था। एक दूसरा विचार यह भी है कि नान्देड एवं निजामाबाद (आज के जिले) मे सम्बन्धित प्रदेश को अश्मक कहा जाता रहा हो।

(2) मूलक : प्रतिष्ठान (पैठण) और उसके आस-पास का प्रदेश। पैठण सातवाहनो की राजधानी थी किन्तु इस रूप में उल्लेख नही मिलता।

(3) अपरांत : आज का कोकण प्रदेश। ठाणा के आस-पास के प्रदेशों को अपरांत कहा जाता था। कोकण नाम बाद का है।

(4) विदर्भ . आज के वरार प्रदेश को विदर्भ भी कहा जाता है। यह नाम प्रचलित है। विदर्भ नाम वहुत प्राचीन है। उपनिषद्, महाभारत एवं हरिवश पुराण में इसका उल्लेख मिलता है। दमयंती, रुक्मिणी, लोपामुद्रा आदि विदर्भ की राजकन्याएं थी। इस जनपद की राजधानी कुडिनपुर थी। इन नामों के साथ-साथ करहाटक, भोगवर्धन (भोकरदन), वत्सगुलम (वासिम), नासिक आदि जनपद प्रसिद्ध थे।[15]

ऊपर जो नाम दिये गये है, वे सब पीछे के अनुच्छेदो में आये हैं। महाराष्ट्र से सम्बन्धित नामों का स्पष्टीकरण ऊपर किया है। महाराष्ट्र की तरह महाराष्ट्री प्राकृत का नामकरण भी सातवाहनों के बाद में ही रूढ़ हुआ है। सातवाहन राजा आन्ध्र के थे या नहीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। श्री रघुनाथ महारुद्र भुसारी उन्हें आन्ध्र का नहीं मानते।[16]

सातवाहनों के बाद में उनके अधीन रहने वाले सामंत तथा राजा अपने-अपने स्थान में स्वतंत्र हो गये। जिस समय समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत पर आक्रमण

किधा, उस समय उसकी विजयध्यात्रा पूर्वी तट की रही। पहले वह उड़ीसा पहुंचा और बाद में दक्षिण में कृष्णा तथा कावेरी की ओर बढ़ता गया। उसकी दक्षिण विजय की यात्रा पूर्वी घाट तक ही सीमित थी। पश्चिम की ओर वह बढ़ा नहीं। उस समय में वाकाटक वंश का विदर्भ शक्तिशाली राज्य था। सातवाहनों के बाद महाराष्ट्र में वाकाटकों का राज्य प्रबल था। समुद्रगुप्त का सघर्ष वाकाटको से नहीं हुआ। समुद्रगुप्त जब वाकाटकों की ओर भी नहीं मुडा तो पश्चिम मे सातवाहनों के केन्द्र स्थल पर उसके मुड़ने का प्रश्न ही नही था। पूर्वी तट के राज्य निश्चित ही इस समय स्वतंत्र थे। उन पर वाकाटकों का शासन नहीं था। आरम्भ में वे सातवाहनों के अधीन थे परन्तु बाद मे सातवाहनों के कमजोर होने पर स्वतंत्र हो गये। वाकाटकों के प्रबल हो जाने के कारण पूर्वी तट के राजा स्वतंत्र हो गये और उन्हें परास्त करना समुद्रगुप्त के लिए कठिन काम नही था। वाकाटकों के समय मे आंध्र प्रदेश और महाराष्ट्र का अलगाव राजनीतिज्ञ रूप से अनकहे हो गया। वाकाटकों की सीमाओं में महाराष्ट्र का भाग आता है। नर्मदा से लेकर हैदराबाद तक का महाराष्ट्र का पश्चिमी भाग (जिसे विदर्भ कहा गया है) वाकाटको का क्षेत्र रहा है। सातवाहनो के समय में यह अलगाव नही था। पश्चिमी तट से पूर्वी तक एक ही बात थी। भाषाएं भिन्न रही भी हों तो उनमें राजनीतिक अलगाव नहीं था। सभी जगह प्राकृत भाषा रही है।

पूर्वी तट के राज्य एवं वाकाटक राज्य की सीमाएं प्रथम बार इतिहास में भाषागत सीमाओं को—मराठी और तेलुगु की सीमाओं को --आर्य और द्रविड़ परिवार की सीमाओं को व्यक्त करते है।

वाकाटकों का सम्बन्ध उत्तर में हिन्दी भाषा की सीमाओं को छूता है। एक अर्थ में वाकाटकों का राज्य भारत के मध्य भाग में रहा है। भंडारा-चन्द्रपुर से लेकर बम्बई तक सीधे चले आएं तो महाराष्ट्र के उत्तरी भाग की सीमा लम्बी ही लम्बी है। महाराष्ट्र की सीमाएं जहां समाप्त हो जाती है उसके बाद घना जंगल है और बाद में तो शीघ्र ही पूर्वी तट तक पहुंच जाते है। उत्तर में महाराष्ट्र की इस विस्तृत सीमा का कारण वाकाटकों का राज्य है।

महाराष्ट्र की उत्तरी सीमाओं की विस्तृत रेखा उत्तर भारत की सीमाओं से मिलती है। यह भी एक कारण है. जिसके कारण मराठी भाषा को आर्य भाषा परिवार में रखा गया है। उत्तर भारत की भाषाओं से मराठी का सीधा सम्पर्क बहुत दूरी तक बना हुआ है। 'इसलिए उत्तर भारत की भाषाओं के साथ मराठी भाषा सम्पर्क बल के कारण जुड़ी हुई है --

चन्द्रपुर-भण्डारा से पूर्वी तट बहुत दूर नहीं। और फिर जंगलों को पार करके पहुंच भी जायें तो आन्ध्रप्रदेश का वह भाग आदिवासियों का क्षेत्र है, छत्तीसगढ़ का क्षेत्र है और आगे उड़ीसा है। प्राकृतिक रूप में अलगाव होने के कारण आन्ध्रप्रदेश

की भाषा—तेलुगु भाषा—उत्तर की भाषाओं के अधिक सम्पर्क में नहीं आ सकी है।

सातवाहनों के समय में राजधानी पश्चिम में थी और उनका शासन पूर्व में था। आंध्रप्रदेश में—पूर्वी तट के राज्यों में—श्रीकाकुलम् से नेल्लूर-गुंटूर तक प्राकृत भाषा सातवाहनों के कारण पहुंची। प्राकृत भाषा वहां की भाषा न थी। आन्ध्रप्रदेश में सातवाहनों के काल के अभिलेख प्राकृत में मिलते हैं। प्राकृत आन्ध्र-प्रदेश में शासकीय भाषा के रूप में रही और बाद में—सातवाहनों की अधीनता से मुक्त होने पर—उनका ध्यान संस्कृत की ओर गया। गुप्त राजा—समुद्रगुप्त-चन्द्र-गुप्त आदि—की विजय के कारण संस्कृत भाषा को आन्ध्रप्रदेश में प्रोत्साहन मिला। आन्ध्रप्रदेश में संस्कृत भाषा सीधे पहुंची है। प्राकृत का माध्यम आन्ध्रप्रदेश में नहीं है। तेलुगु भाषा का सम्बन्ध प्राकृत से नहीं जोड़ा जाता। इस तुलना में मराठी भाषा का सम्बन्ध प्राकृत से जोड़ा जाता है। इसके कारण ऐतिहासिक हैं।

सातवाहनों के समय में और वाकाटकों के समय में हमें मराठी भाषा की एक भी पंक्ति (अभिलेखों तक में) नहीं मिलती। सब कुछ अन्धकार में है। इतनी बात सच है कि इस पूरी अवधि में प्राकृत भाषा प्रबल रही है। सातवाहनों के समय में प्राकृत और वाकाटकों के समय में प्राकृत भाषा का स्थान संस्कृत भाषा लेने लगी थी, वाकाटकों के तुरन्त बाद वातापि के चालुक्य प्रबल हुए। वे कर्नाटक में थे और वहीं से वे उत्तर की ओर बढ़े और समस्त महाराष्ट्र में शक्तिशाली हो गये। सातवाहनों के बाद में वातापि के चालुक्य प्रबल शासक हुए जिनके राज्य की सीमाएं तमिल प्रदेशों को छूती थीं और समस्त महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेश उनके साम्राज्य का भाग हो गया था। कई छोटे-छोटे राज्य थे। चालुक्यों की ही एक शाखा बाद में वेंगी में (आन्ध्रप्रदेश में—पूर्वी तट पर गोदावरी के निकट) प्रबल हुई। बादामी के चालुक्यों के कमजोर होते ही राष्ट्रकूट राजा प्रबल हो गये। ये राष्ट्रकूट राजा महाराष्ट्र में शासन करने लगे। पहले इनकी राजधानी महाराष्ट्र में एलापुर(एलोरा के निकट) रही। इनकी सेना मयूरखण्डी (नासिक के पास) में रहती थी और यहीं से ये राजा दूर-दूर तक नर्मदा नदी तक आक्रमण करते रहे। राष्ट्रकूट राजाओं का क्षेत्र वातापि के चालुक्यों से विस्तृत था किन्तु चालुक्य राजा सभी सीमाओं पर (राष्ट्रकूटों की सीमाओं पर) अपना अस्तित्व बनाये हुए थे। पूर्व में वेंगी में उनकी शाखा थी। दक्षिण में उनके अवशेष थे ही और उत्तर में लाट देश में उनकी अलग शाखा हुई। राष्ट्रकूटों के कमजोर होते ही चालुक्य पुनः प्रबल हो गये। दक्षिण के अधिक दबाव के कारण राष्ट्रकूटों ने महाराष्ट्र का उत्तरी भाग छोड़ दिया और वे मान्यखेट चले आये (बीदर जिले में है) यहीं से वे शासन करते रहे।

राष्ट्रकूटों में अमोघवर्ष का शासन काल दीर्घ रहा है और वह मान्यखेट से ही शासन कर रहा था। उसकी राजधानी तीनों भाषाओं का भौगोलिक केन्द्र है—

तेलुगु, कन्नड़ और मराठी। राष्ट्रकूटों का पतन होते ही चालुक्य पुनः प्रबल हो गये। उन्होंने कल्याणी को राजधानी बनाया। कल्याणी बीदर जिले में ही है। कल्याणी के चालुक्यों के समय में वेंगी के चालुक्य तथा लाट के चालुक्य अपनी-अपनी सत्ता को दृढ़ कर रहे थे। एक प्रकार से महाराष्ट्र आन्ध्रप्रदेश तथा कर्नाटक का प्राक्-रूप इसी समय में बन रहा था।

मराठी भाषा का भौगोलिक क्षेत्र राष्ट्रकूटों के समय से अधिक स्पष्ट होने लगता है। उनके राज्य की सीमाओं में समस्त महाराष्ट्र रहा है। महाराष्ट्र से उत्तर में वे गुजरात तक और दक्षिण में वे चोलों की सीमाओं को (तमिल प्रदेश को) छूते थे। राष्ट्रकूटों के समय में सीमावर्ती प्रदेशों पर चालुक्य अपना अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में बनाये हुए थे। विशेष रूप से वेंगी के चालुक्यो का अस्तित्व—स्वतन्त्र अस्तित्व कहना चाहिए—राष्ट्रकूटो के समस्त काल में रहा है। सातवाहनों के बाद में पूर्वी तट से पश्चिमी तट का सम्पर्क टूट गया था। बाद मे वाकाटकों ने भी उत्तर-दक्षिण मे ही विस्तार किया। पूर्वी तट की ओर वे गये नही और इसके बाद तो यह अलगाव— पश्चिमी तट और पूर्वी तट के राज्यों का अलगाव—इतिहास में निरन्तर बना रहा। प्राकृतिक रूप में ही आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार अलग हो गये। राजनीतिक कारण तो हैं ही—इससे अधिक भौगोलिक कारण हैं।

वाकाटकों के समय में राज्य की सीमाएं निश्चित ही पूर्व में वहां तक पहुंची है, जहां तक आज भी महाराष्ट्र की सीमाए हैं। उत्तर में वे पूर्वी तट से कुछ ही दूर रहती हैं। उड़ीसा तक ठीक से संपर्क न होने पर भी— छत्तीसगढ़ का वन्य प्रदेश आ जाता है। यह वन्य प्रदेश अपने आप में आदिवासियों का क्षेत्र है और वह आज भी बना हुआ है। महाराष्ट्र के उत्तर-पूर्व के विस्तार की रेखा से दक्षिण की ओर बढ़ते जायें तो सीमा रेखा महाराष्ट्र और आन्ध्रप्रदेश की बनती जाती है। दक्षिण की ओर बढ़ते समय हम पश्चिम की ओर बढ़ते जाते हैं, और यह बढ़ना बीदर जिले तक (आज का नाम है) अर्थात् राष्ट्रकूटो की राजधानी और बाद में चालुक्यों की राजधानी तक जारी रहता है। यहां से आगे महाराष्ट्र की सीमा-रेखा पश्चिम की ओर मुडते समय कर्नाटक से जुड़ जाती है।

आन्ध्र-प्रदेश और महाराष्ट्र की सीमाओ को ध्यान से देखें तो इन सीमाओं में भौगोलिक कारण प्रधान है। इन सीमारेखाओं मे घना जंगल है। ऊंची पहाड़ियां है। सहज प्रवेश सम्भव नही है और आवागमन की कठिनाइयां हैं। स्वयं प्रकृति ने ही भाषाओं के भेद की सीमाएं बना दी है। पश्चिमी तट और पूर्वी तट सीधे-सीधे आपस में राजनीतिक स्तर पर ठीक से जुड़ नहीं पाये हैं।

जहां तक मराठी भाषा के भौगोलिक क्षेत्र का सम्बन्ध है, उसकी पूर्वी सीमा का निधारण वाकाटकों के समय में हो गया और बाद में दक्षिणी सीमा का निर्धारण यादव राजाओं के समय में हुआ। कल्याणी के चालुक्यों के पतन के समय में पहले

केन्द्र पर कुछ काल के लिए कलचुरियों का अधिकार हो गया था किन्तु यादवों ने बाद में उनका स्थान ले लिया। दक्षिण में होयसल राजा प्रबल हो गये। होयसलो का क्षेत्र कन्नड भाषा का हे और यादवों का क्षेत्र मराठी भाषा का है। पूर्व में इस समय काकतीयो का उदय हुआ। उनकी राजधानी वरंगल हुई। इसी प्रकार होयसलों की राजधानी द्वार समुद्र (मैसूर के निकट) हुई। यादवो की राजधानी देवगिरि हुई। कल्याणी के चालुक्यो के पतन के बाद तीनो भाषाओ के क्षेत्र अपने आप राजनीतिक रूप में अलग-अलग हो गये।

ऐसी मान्यता रही है कि महाराष्ट्री प्राकृत से महाराष्ट्री अपभ्रंश का उद्भव हुआ और उसी मे मराठी भाषा का उद्भव हुआ है। किन्तु जिन विद्वानो ने मराठी भाषा का इतिहास लिखा है, वे महाराष्ट्री प्राकृत के बाद की स्थिति महाराष्ट्री अपभ्रंश के सम्बन्ध मे कहते है कि मराठी ग्रन्थकारो को अपभ्रंश ज्ञात हो किन्तु महाराष्ट्री अपभ्रंश की एक भी रचना उपलब्ध नही है। और यदि हम मराठी के उद्भव का काल 1000 शक संवत् के आसपास मान ले तो तदनुसार महाराष्ट्री अपभ्रंश का काल भी यही मानना होगा।[17]

ग्रन्थों में या रचनाओं में मराठी भाषा का स्वरूप बहुत बाद मे दिखायी देता है। उसका आरम्भ हमे अभिलेखों मे मिलता है। मराठी के अभिलेखो पर एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तक का नाम है –'प्राचीन मराठी कोरीव लेख', इसका सम्पादन श० गो० तुलपुळे ने किया है। उसका प्रकाशन पुणे विश्वविद्यालय से 1963 ई० मे हुआ। इसमे सम्पादित अभिलेखो के सम्बन्ध मे सम्पादक का कहना है

"एकत्रित 76 अभिलेखों मे 66 शिलालेख है और 10 ताम्रलेख।···सामान्य रूप मे 6 शिलालेखों के साथ 1 ताम्रलेख मिलता है। इन 10 ताम्रलेखो मे 4 संदिग्ध है। अर्थात् महाराष्ट्र मे शिलालेखों की तुलना मे ताम्रलेखो का प्रमाण बहुत कम है। इस संग्रह के एकत्रित 76 अभिलेखो मे 59 अभिलेख ऐसे है, जिनमें तिथियों का उल्लेख है। अन्य अभिलेखों मे चार संदिग्ध है। 6 ऐसे है जिनका काल अनुमान से निश्चित करना पड़ता है और 7 ऐसे है जिनके सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। 59 अभिलेखो का कालनिर्देश निम्न रूप मे मिलता है -

| काल | | | | अभिलेखो की संख्या |
|---|---|---|---|---|
| शक संवत् | 934 से | 1000 तक | ··· | 2 |
| " | 1001 | 1100 | ··· | 11 |
| " | 1101 | 1200 | ··· | 22 |
| " | 1201 | 1300 | ··· | 20 |
| | 1301 | 1335 | ··· | 4 |
| | | | | 59 |

ऊपर की तालिका में आरम्भ में और अन्त में अभिलेखो की सख्या बहुत कम है। प्रायः 1100 शक सवत् से 1300 शक सवत् के बीच अभिलेख अधिक लिखे गये।" 18

मराठी अभिलेखो में प्रथम अभिलेख 934 शक सवत् अर्थात 1012 ई० का है। दूसरा अभिलेख शक सवत् 982 अर्थात् 1060 ई० का है। ईसा की ग्यारहवी शती से पूर्व मराठी भाषा की एक भी पक्ति उपलब्ध नही है। इस तुलना मे तेलुगु भाषा मे प्रथम अभिलेख छठी शती के अन्तिम दशकों के मिलते है। मराठी के उपलब्ध अभिलेखो मे और तेलुगु के उपलब्ध अभिलेखो मे लगभग 500 वर्षों का अन्तर है।

श्री के० महादेव शास्त्री ने छठी शती मे दसवी शती के बीच के 100 अभिलेखो के आधार पर प्राचीन तेलुगु भाषा का ऐतिहासिक विवेचन अपनी पुस्तक 'दि हिस्टॉरिकल ग्रामर ऑफ तेलुगु' मे किया है। छठी शती से भी पहले वे तेलुगु भाषा का अस्तित्व ई० पू० दूसरी शती तक पीछे ले जाते है। कुछ प्राकृत तथा कुछ सस्कृत के अभिलेखो पर एक स्वतन्त्र अध्याय उन्होंने लिखा है। वे अभिलेख प्रायः सातवाहन राजाओ के काल के है। प्राकृत तथा सस्कृत के अभिलेखो मे तेलुगु भाषा के प्राचीन सस्कारो की पहचान श्री के० महादेव शास्त्री ने की है।[19]

तेलुगु भाषा का इतिहास लिखनेवाले विद्वान् तेलुगु भाषा के अस्तित्व को ई० पू० की दूसरी शती तक पीछे ले जाते है। इस तुलना मे मराठी का अस्तित्व स्वय मराठी के विद्वान् इतना पीछे तक नही बतलाते। ई० पू० की शताब्दियो मे तमिल भाषा का अस्तित्व मिलता है। तमिलभाषी क्षेत्र सुदूर दक्षिण मे है और ईसा पूर्व की शताब्दियो मे नन्द तथा मौर्यो के समय यह क्षेत्र एक प्रकार से स्वतन्त्र रहा है। सातवाहनो के शासन काल मे भी तमिल क्षेत्र प्राकृत भाषा या सस्कृत भाषा से प्रायः मुक्त ही रहा है। इस तुलना मे आन्ध्रप्रदेश का क्षेत्र, कर्नाटक का क्षेत्र तथा महाराष्ट्र इन तीनो प्रदेशो का क्षेत्र सातवाहनो के समय प्राकृत भाषा से अधिक प्रभावित था। और इन तीनो मे भी महाराष्ट्र मे प्राकृत भाषा का अस्तित्व अधिक काल तक रहा है। सातवाहनो के बाद मे चालुक्यो और राष्ट्रकूटो के समय मे भी प्राकृत भाषा और बाद मे सस्कृत भाषा महाराष्ट्र मे रही है। वस्तुतः इस तथ्य को लेकर विचार होना चाहिए कि प्राकृत भाषा का सम्बन्ध मराठी, तेलुगु और कन्नड तीनो भाषाओ के साथ किस रूप मे है। कारण यह है कि इसी आधार पर आर्य परिवार और द्रविड़ परिवार के अलगाव के ऐतिहासिक कारणो का विवेचन किया जा सकता है।

क्या प्राकृत भाषा के अस्तित्व को महाराष्ट्र मे ग्यारहवी शताब्दी के आरम्भ तक— मराठी का प्रथम अभिलेख मिलने तक —स्वीकार कर ले ? और ठीक इसके विपरीत यह मान ले कि तेलुगु के अभिलेख छठी शती के अतिम दशका मे मिलते

हैं। तेलुगु के अभिलेखों से 800 वर्ष पीछे जाकर सातवाहनों के समय में तेलुगु के अस्तित्व को स्वीकार करना—एक अर्थ में उसी समय में मराठी के अस्तित्व को स्वीकार करने के समान है। ग्यारहवीं शताब्दी में मराठी का प्रथम अभिलेख मिलता है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि उससे पूर्व मराठी भाषा का अस्तित्व नहीं था। वस्तुत: हमें सातवाहनों के काल में मराठी भाषा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेना चाहिए। इसके प्रमाण में (दोहराते हुए ही कह रहा हूं) पुन: कहना चाहूंगा कि महाराष्ट्री प्राकृत—प्राकृत भाषा का मानक और साहित्यिक रूप है और वह भाषा महाराष्ट्र की भौगोलिक भाषा हो नहीं सकती। चूंकि महाराष्ट्र में सातवाहनो की राजधानी थी और उसे महाराष्ट्र में राजभाषा के रूप में मान्यता मिली। अत. वह भाषा अधिक काल तक महाराष्ट्र में बनी रही और उसने स्थानीय भाषा को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अवसर नही दिया। आंध्रप्रदेश का भाग सातवाहनों के बाद कुछ स्वतन्त्र हो गया इसलिए उस प्रदेश में पूर्वी तट का प्रदेश तेलुगु भाषा में अभिलेख पहले मिलने लगते है।

उत्तर भारत को दक्षिण भारत से जोड़ने वाले दो पथ प्रधान रहे हैं। एक है दक्षिणापथ और दूसरा आन्ध्र पथ। दक्षिणापथ इन दोनों में प्रधान है और इस पथ का उपयोग अधिक हुआ है। इस पथ का सम्बन्ध महाराष्ट्र से है। यह पथ पश्चिमी तट का है। दूसरा पथ पूर्वी तट का है। वह आन्ध्र पथ का है। पश्चिमी तट से दक्षिणापथ से प्राकृत भाषा का विस्तार हुआ और वह भाषा फिर कर्नाटक और अन्ध्र तक पहुंची। आन्ध्र पथ से समुद्रगुप्त दक्षिण में आया और उसके बाद सस्कृत भाषा का महत्त्व आन्ध्र में बढ़ता गया। परिणाम यह हुआ कि तेलुगु भाषा अपने मूल रूप में ही संस्कृत से सीधे प्रभावित हुई। मराठी भाषा को सस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भाषा का संस्कार अधिक प्राप्त हुआ है। प्राकृत भाषा के अधिक संस्कार के कारण मराठी भाषा दक्षिण की भाषाओ से अलग हो गयी है।

सातवाहनों के काल से यादवों तक का काल मराठी भाषा के इतिहास की दृष्टि से अन्धकार में है। महाराष्ट्र के पूर्व में और दक्षिण में तेलुगु और कन्नड़ भाषाएं मराठी से पहले मुखरित हो गयीं। ऐसा क्यों हुआ ? केवल मराठी की बात नहीं है। उत्तर भारत की प्राय: आर्य परिवार की आधुनिक भाषाओं का इतिहास मराठी भाषा के इतिहास से मिलता-जुलता है। आर्य परिवार की आधुनिक भाषाओं और संस्कृत भाषा के बीच में प्राकृत-अपभ्रंश की कड़ी है। ऐसी बीच की कड़ी दक्षिण भारत की भाषाओं में नहीं मिलती। इस बीच की कड़ी के कारण आधुनिक आर्य भाषाओं का इतिहास का काल कुछ आगे बढ़ गया है। इस नाते मराठी आर्य परिवार के अधिक निकट है।

महाराष्ट्र में प्राकृत भाषा का काल इतिहास में और स्थानों की अपेक्षा अधिक है। सातवाहनों के समय से (ई० पू० तीसरी शती से) यादवों के काल तक

(1012 ई० तक पहला मराठी अभिलेख मिलने तक) लगभग बारह शताब्दियों से कुछ ऊपर का काल है। इस लम्बी अवधि में प्राकृत भाषा की साहित्यिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों का भी (विशेष रूप से महाराष्ट्र में) पूरा विवेचन एक स्थान पर नहीं मिलता। क्रम जोड़ना पड़ता है और अनुमान से ही काम चलाना पड़ता है।

श्री शं० गो० तुळपुळे ने प्राचीन अभिलेखों की—मराठी भाषा में उपलब्ध अभिलेखों से पहले के अभिलेखों की—भाषा पर अलग से विचार किया है। महाराष्ट्र में प्रचलित भाषा रूपों को पहचानने में उनके कथन महत्त्वपूर्ण हैं। मराठी भाषा के प्राथमिक स्वरूप को जानने में इससे सहायता मिलती है। वे लिखते हैं—

"लिपि के सम्बन्ध में जिस प्रकार उत्तर की ओर से आयी नागरी ने दक्षिण का बहुत बड़ा क्षेत्र घेर लिया, उसी प्रकार भाषा के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कुछ हुआ है। इस दृष्टि से प्राचीन काल के गुफाओं के शिलालेखों पर विचार करें तो उनमें भाषाओं के तीन प्रकार दिखायी देते है --(1) प्राकृत (2) प्राकृत-संस्कृत एवं (3) संस्कृत। जिस काल-क्रम में भाषाओं के तीन प्रकार रूढ़ हुए वह क्रम स्थूल रूप में वही रहा है। अर्थात् प्रथम प्राकृत, अनन्तर संमिश्र और अन्त मे संस्कृत है। सातवाहनों के प्राय: सभी अभिलेख प्राकृत में हैं। क्षहरातों के अभिलेख प्राकृत में होने पर भी वे सस्कृत की ओर झुकते प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि क्षहरातों के सभी प्राकृत अभिलेखों पर संस्कृत की छाया स्पष्ट रूप में दिखायी देती है। इसके बाद धीरे-धीरे प्राकृत का स्थान संस्कृत ने लिया और इससे वाकाटकों के आरम्भ के अभिलेखों में भाषाओं का यह संस्कृतीकरण साफ दिखाई देता है। वाकाटकों का पहला उपलब्ध ताम्रपट वाशिम का है। इस ताम्रपट की भाषा का अध्ययन इसी दृष्टि से किया जा सकता है। इस ताम्रपट की आरम्भ की वंशावली से सबंधित पांच पंक्तियां और अन्त की आशीर्वचनात्मक सामग्री शुद्ध संस्कृत में है। बीच का भाग केवल प्राकृत में है। यही प्रथा आगे भी कुछ काल तक चलती रही है। बादामी के चालुक्यों के अभिलेख भी इसी प्रकार के मिलते हैं। भाषा की दृष्टि मे इन अभिलेखो को तीन भागों में विभाजित करना पड़ेगा। पहला विभाग विजयादित्य चालुक्य तक होगा अर्थात् 696 ई० तक होगा। इस समय तक के प्राय: अभिलेख संस्कृत भाषा में हैं। विजयादित्य के समय से बादामी के चालुक्यों का शासन महाराष्ट्र और कर्नाटक दो भागों में विभाजित हुआ और इससे भाषाओं का विभाजन भी हो गया। अर्थात् उत्तर में संस्कृत और कर्नाटक में कन्नड़—इस प्रकार भाषिक विभाजन हो गया। ऐसा लगता है कि चालुक्यों की भाषा सम्बन्धी नीति द्विभाषिक रही है। महाराष्ट्र में (उत्तर-दक्षिण में) सस्कृत और कर्नाटक में कन्नड़। अभिलेख का प्रस्तावना सम्बन्धी भाग और समापनपरक पंक्तियां संस्कृत में लिखी जाती रहीं और बीच की

पक्तिया कन्नड मे लिखी जाने लगी। इन अभिलेखों में कन्नड को 'प्राकृत भाषा' कहा गया है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है। इसका एक अर्थ यह भी होता है कि एक ही अभिलेख में संस्कृत तथा प्राकृत दो भाषाओ का उपयोग कर अभिलेखो का समिश्र स्वरूप बनाये रखने की रूढ़ परम्परा का पालन उन्होंने किया है। इसके बाद राष्ट्रकूटो के शासन काल पर विचार करे तो प्रतीत होगा कि वे भी चालुक्यो की प्राय. इस नीति का पालन करते रहे है। उनकी भाषिक योजना भी प्रान्तो के अनुसार रही है। दक्षिण (अर्थात् महाराष्ट्र) एवं गुजरात के अभिलेखो मे सस्कृत, कर्नाटक के अभिलेखो मे कन्नड एवं तमिलनाडु के अभिलेखो मे तमिल भाषा का उपयोग राष्ट्रकूट नरेश करते रहे है। उनकी नीति यही थी। इसी तरह अभिलेखो का स्वरूप द्विभाषिक रहा है। इसके बाद कल्याणी के चालुक्यो का काल आता है। उनके अभिलेख प्रधान रूप से कन्नड मे है, कुछ केवल सस्कृत मे और कुछ सस्कृत-कन्नड समिश्र स्वरूप के है। कल्याणी के चालुक्यो के तीन ताम्रपटो मे मराठी भाषा का आभास मिल जाता है। इन पर आगे विस्तार मे लिखा गया है। इसके बाद यादवो के अभिलेखो पर विचार करे। उनका स्वरूप भी प्राय समिश्र ही है। महाराष्ट्र मे अभिलेखो का स्वरूप सस्कृत अथवा मराठी भाषा का है और कर्नाटक मे वही सस्कृत-कन्नड को अपनाये हुए हैं। इसके अतिरिक्त पूर्ण रूप मे सस्कृत मे या मराठी मे या कन्नड मे लिखे हुए अभिलेख भी मिलते है। यादवो के उपलब्ध अभिलेखो मे कन्नड भाषा के अभिलेख लगभग आधे है। कलचुरियो और शिलाहारो के लेखन का स्वरूप भी प्राय: ऐसा है। कलचरियो के कर्नाटक के समस्त अभिलेख कन्नड भाषा मे हैं। कोल्हापुर के शिलाहारो के अभिलेख भाषा की दृष्टि से (1) सस्कृत, (2) सस्कृत-कन्नड एव (3) कन्नड—तीन प्रकार के है। उनमे भी कन्नड अभिलेखो की सख्या सबसे अधिक है। ठीक इसी प्रकार कोकण के शिलाहारो के अभिलेख (1), सस्कृत (2) सस्कृत-मराठी एव (3) मराठी तीन प्रकार के है।"[20]

डा० गो० तुळपुळे अभिलेखो की भाषाओ पर विस्तार मे लिखने के बाद निष्कर्ष रूप मे लिखते है—

1 दक्षिण के प्राचीनतम अभिलेख प्राकृत भाषा के है।

2 प्राकृत भाषा का स्थान धीरे-धीरे सस्कृत भाषा ने लिया है।

3 अभिलेख अधिक सख्या मे समिश्र स्वरूप के है। उनका औपचारिक भाग सस्कृत एव मुख्य भाग प्राकृत भाषा का रहा है।

4 सातवाहनो के समय से कोकण के शिलाहारो तक दक्षिण में कई वंशो ने शासन किया किन्तु भाषाओ के सम्बन्ध मे उनकी नीति प्राय व्यावहारिक रही है। किसी ने भी किसी भाषा विशेष के लिए आग्रह नही किया।

5 भाषा के सम्बन्ध मे उदार नीति अपनाने के कारण एक ही राज्य मे दो,

तीन और चार अलग-अलग भाषाओं में अभिलेख लिखे गये है।

6. अभिलेखों मे प्राकृत भाषा का स्थान प्रथम सस्कृत भाषा ने लिया और अनन्तर मराठी-कन्नड़ ने उसका स्थान लिया।

7. यह सब होते हुए भी दक्षिण के अभिलेखो पर सस्कृत भाषा का प्रभाव सदैव बना रहा।"[21]

श्री शं० गो० तुळपुळे के निष्कर्ष व्यावहारिक और तथ्यों पर आधारित है। इन निष्कर्षों को देखते हुए यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि महाराष्ट्री प्राकृत के स्वरूप पर भाषा-भूगोल की दृष्टि से विचार किया जाये। सब कुछ अनुमान नही होगा किन्तु इन अनुमानों को प्राथमिक आधार प्राप्त हो गया है। तदनुसार आनुषंगिक रूप मे कुछ निष्कर्ष है- -

1. दक्षिण में प्राकृत भाषा के अभिलेख प्राचीनतम है। ये सातवाहनों के काल के है। वह प्राकृत भाषा महाराष्ट्री प्राकृत ही है या अन्य (प्राकृत का कोई दूसरा रूप)—इसकी जाच आवश्यक है।

2. कर्नाटक तथा आन्ध्रप्रदेश के क्षेत्रों मे प्रचलित प्राकृतो के अभिलेखो की भाषाओ को क्या महाराष्ट्री प्राकृत भाषा कहा जा सकेगा ?

3 पीछे अनुच्छेद सख्या 235 में (श० गो० तुलपुले की उद्धृत पंक्तियों मे) कहा गया है कि कन्नड को भी आरम्भ म प्राकृत कहा जाता रहा है। इसका तात्पर्य यह भी हो गया कि (एक अर्थ में) भारत की प्राय. सभी भाषाओं को (सस्कृत को छोडकर) प्राकृत के नाम से अभिहित किया गया है। प्राकृत के फिर अलग-अलग नाम देशभेद और जातिभेद से हुए है। मार्कण्डेय की पुस्तक 'प्राकृत सर्वस्वम इस तथ्य की पुष्टि में सहायक है। उसने दक्षिण की भाषाओ को भी प्राकृतो के अन्तर्गत रखा है।

4 महाराष्ट्री प्राकृत को, भौगोलिक स्वरूप की भाषा न मानकर, उसे प्राकृत भाषा का देशव्यापी मानक रूप कहना चाहिए। वह काव्य की भाषा है।

5 प्राकृत भाषा का स्थान सस्कृत ने लिया और फिर बाद मे देशी भाषाओ ने—मराठी, कन्नड और तेलुगु आदि ने लिया है। इनमे भी आर्य परिवार और द्रविड परिवार की भाषाओं की दृष्टि से विचार करें तो कन्नड और तेलुगु दोनों ही भाषाए पहले मुखरित हुई। महाराष्ट्र मे सस्कृत भाषा चलती रही। ऐसा क्यो ? क्या सस्कृत भाषा के अधिक काल तक प्रचलित रहने के कारण मराठी आर्य परिवार की हो गयी ? और फिर प्राकृत की बात करें तो जिस समय मे कर्नाटक और आन्ध्र में कन्नड़ और तेलुगु मुखरित हो रही थी - अभिव्यक्ति का आधार ग्रहण कर रही थी -अभिलेखो मे उसका उपयोग हो रहा था, ठीक उसी समय मे मराठी भाषा मुखरित क्यों नही हुई और इस विलम्ब मे प्राकृत भाषा अन्तराल में नही थी। उसका स्थान संस्कृत ने ले लिया था। ऐतिहासिक तथ्य यही

# हिन्दी-मराठी । लोकनाट्य

## डॉ० शकुन्तला पांचाल

कहा जाता है कि भारतीय कला राजाओं और सामन्तों के आश्रय में विकसित हुई। किन्तु जनसमाज और निम्न वर्ग में कला का अपना स्वरूप था और उनके मनोरंजन के अपने साधन थे। आज विद्वानों का ध्यान नाट्यकला की ओर गया है और लोकगीत, लोकनृत्य के साथ लोकनाट्य भी विवेच्य तथा आस्वाद्य विषय हो गया है।

"आज भी लोकनाट्य के लिए अपेक्षित रंगस्थल-निर्माण और रंगसज्जा के निमित्त न तो जनसमाज के पास उपयोगी साधन हैं, और न विशाल नाट्यमण्डपों के निर्माण के लिए स्थल ही उपलब्ध है। नाट्य-नृत्य के कलाकारों के प्रति जन-समाज सर्वदा नीची निगाह से देखता रहा, फिर भी जिनके हृदय में कला के प्रति आन्तरिक प्रेरणा विद्यमान है वे ही इस ओर आते हैं।"[1]

लोकगीत, लोकनृत्य और लोकनाट्य एक ओर धार्मिक भावना की परितृप्ति करते है तो दूसरी ओर सामाजिक मनोरंजन के साधन भी जुटाते हैं। जैसे छोटे बच्चो को खिलाते समय या लोरी गीतों में अर्थ की अपेक्षा एक प्रकार का ताल होता है, हाथों-गर्दन आदि की हलचल की जाती है—उदा० 'चांदोबा, चांदोबा भागलास का ?' या 'आपडी थापड़ी गुळाची पापड़ी' आदि गीतों को मराठी में बडबड़ गीत कहते है। इसी प्रकार गणेशोत्सव की उपासना के समय गाया जाने वाला गीत 'गण्या गण्या गणपती महानुभाव'। साहित्य में भी ऐसे गीतो का समा-वेश है। ये अर्थहीन गीत शताब्दियों मे परंपरागत रूप में किस प्रकार चलते आए होंगे इस पर हमें ताज्जुब होता है।

दूसरी ओर लोकनाटय श्रमिकों, पीड़ितों के मन की सहज और सशक्त अभिव्यक्ति है। लोकनाट्य के मूल निर्मिति में अनेकों कारण हो सकते हैं किन्तु समाजशास्त्रीय कारण भी उनमें से एक हो सकता है। हम देखते है कि आज भी देहात में चक्कियों पर गाए जाने वाले स्त्रियों के गीत भावरम्यता से विकसित हुए हैं। इसी के साथ महाराष्ट्र में पुरुष वर्ग द्वारा गाए जाने वाले लोकगीत भी

उपलब्ध हैं जैसे खेतों में काम करने वाले किसान अपने श्रमपरिहार के लिए मोट चलाते गीत गाते हैं, तो गोंदाली, भराडी, वासुदेव, पोतरा आदि आज भी गांवों में नृत्य के साथ जो गीत गाए जाते हैं उनका समावेश हम भक्तों के गीतों में करते हैं, या इन समस्त गीतों का स्वरूप उपासना गीतों का होता है। इसके अतिरिक्त 'पांगुल' भी एक लोकगीत है—आज भी देहात में गांव के चौराहे के किसी बड़े पेड़ पर बैठकर सूर्योदय के पूर्व गांव के स्त्री-पुरुषों को संबोधित करते हुए पांगुल अपना गीत गाता है—"आयांनो, बायांनो पांगुल आला हो, बेचाळीस कुळाचा उद्धार, सदाशिवाचा भक्त असेल, पांगुळाला दान देईल आई बापाला दान देईल, दान पावे करें" इस प्रकार जोर-जोर से पुकारते हुए अपना गीत गाता है। पांगुल संप्रदाय महाराष्ट्र और कर्नाटक में स्थित है।[2]

इसके अतिरिक्त लोकनाट्य में विधिनाट्य का समावेश भी होता है। जैसे—'पंचमी' को ही लीजिए, चैत्र मास के किसी भी तीन या पांच दिन यह उत्सव होता है, इसलिए इसे 'चैती' कहते हैं। यात्रा में जो खेल खेले जाते हैं उसे आखाड़ा कहते हैं। कलगी-तुर्रा के मेले में जो खेल होते हैं उसे भी मराठवाड़ा में 'आखाड़ा' कहते है। इसी 'चैती' के उत्सव को 'आखाड़ी' नाम से भी पुकारते हैं, क्योंकि इसका स्वरूप मेले का होता है और इसमें दशावतार के अलग-अलग स्वांग बनाए जाते हैं। कहीं-कहीं इस कार्यक्रम में कलगी-तुर्रा के 'लावणी' गीत गाए जाते है। नासिक जिले में इस उत्सव को 'आखाड़ी' ही कहते हैं। बसंतपंचमी के दिन इस उत्सव का समापन होता है। मराठवाड़ा में नियमित रूप से मनाया जाने वाला यह उत्सव एक प्रकार से विधिनाट्य ही है। अनेकों गांवों में आज भी 'पंचमी' विधिनाट्य के अवसर पर 'तमाशा' की प्रथा रूढ़ है। तमाशा के किसी वर्ग को बीच में ही रोककर स्वांग को प्राधान्य दिया जाता है। कुछ गांवों में 'तमाशा' के बदले कलगी-तुर्रे का फड़ शुरू होता है और कुछ स्थानों पर 'पंचमी' के स्वांगों के अतिरिक्त गूंगा ज्योतिषी आदि के स्वांग लिये जाते हैं। इस समय भारूड गाने की भी प्रथा है।

इस प्रकार धर्म प्रधान और रसास्वादन की इच्छा रखने वाले दोनों प्रकार के व्यक्ति इन लोकनाट्यों का आनंद लेते हैं। इसलिए हम लोकनाट्य को दो भागों में विभाजित करते है। (1) धर्मप्रधान लोकनाट्य और (2) सामाजिक लोकनाट्य। धर्मप्रधान लोकनाट्यों में 'रामलीला', 'कृष्णलीला', 'बंगाल का यात्रा नाट्य' आदि का समावेश होता है। धार्मिक नाटकों में भी मनोरंजन का अंश मिला रहता है और उसमें लौकिकता आ जाती है।

जयदेव का 'गीत गोविंद' राधा-कृष्ण विहार लीला को ही मूल प्रवृत्ति मानकर चला है। कीथ का मत है कि गीत गोविंद की रचना मुख्यतः गाने के लिए की गई थी। ज्ञात होता है कि जयदेव के गीतों का बंगाल की यात्राओं में गान भी

किया जाता होगा और भक्त लोग स्त्री-पुरुष के विभिन्न रूप धारण कर इनको (अभिनय) के रूप मे भी प्रयुक्त करते होग। निस्सदेह जयदेव, विद्यापति, चडीदास इत्यादि के गीत इन यात्राओ मे सर्वदा आदर के साथ गाए जाते होगे। बहुत सभव है कि जयदेव के 'गीत गोविंद' की रचना यात्राओ मे अभिनय के लिए ही की गई हो और उसका बगाल की जनता पर पर्याप्त प्रभाव भी पडा हो।

जयदेव के बाद यात्रा-नाट्य पर सर्वाधिक महत्त्व डालने वाले चैतन्य महाप्रभु थे। पद्रहवी शती मे कृष्ण भक्ति से सारा देश ओत प्रोत हो गया था। बगाल की नाचती-गाती यात्राए कृष्ण लीला से भर गई थी। भक्तगण विभिन्न पात्रो का रूप धारण कर कृष्णलीला का अभिनय करते थे। चैतन्य महाप्रभु इन यात्राओ मे स्वय रुचि लेते थे और इनका शिष्यमडल इस कथा मे पारगत हो गया था। इनका मुख्य उपास्य सगीत था।

आगे चलकर इन यात्राओ मे एकमात्र कृष्णलीला ही अभिनेय नही रही, इनमे लौकिक गाथाओ पर आधारित अभिनयो का भी समावेश हो गया। सामाजिक, राजनैतिक विषय भी इन अभिनयो मे सम्मिलित हो गये। धार्मिक प्रभाव धीरे-धीरे क्षीण हो गया। कहा जाता है कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी कतिपय यात्रा नाटक लिखे थे। इन यात्रा नाटको ने स्वतत्रता-सग्राम मे भी पर्याप्त योगदान दिया। इन यात्राओ मे देशभक्तिपूर्ण अभिनय प्रदर्शित किए गए और विदशी सरकार के चगुल से देश को छुडा लेने की प्रेरणा दी गई।

आज भी किसी देवता की यात्रा के अवसर पर जुलूस के साथ जनसमूह देवाराधन विषयक गीत गाता, कीर्तन करता और देवचरित्रपरक अभिनय करता जाता है। इन यात्राओ मे नाचरग भी होता है और लोकनृत्य भी दिखलाए जाते है। इनके लिए यात्रा मार्ग मे जो मच सजाए जाते है वे तो लोकनाट्य के अनुकूल खुले मच ही होते हैं। निस्सदेह धार्मिक लोकनाट्य मे यात्रा नाटक की सत्ता जितनी प्राचीन है उसका महत्व भी उतना ही अधिक है।

दक्षिण के लोकनाट्यो मे मैसूर और आध्र के यक्षगान और कुचिपुडी अत्यत प्रसिद्ध है। ये नृत्यनाट्य है, जिनका सम्बन्ध मदिरो से रहता है। यक्षगान कर्णाटक का लोकनाट्य है। जिसकी परपरा प्राचीन है। यक्षगान से मिलता-जुलता आध्र का लोकनाट्य कुचिपुडी है। इसका अभिनय खुले आकाश के नीचे केवल रात मे होता है। इस नृत्यनाट्य का प्रधान उद्देश्य भक्तिभाव है। महाराष्ट्र का ललित और गुजरात का भवाई भी प्रसिद्ध धार्मिक लोकनाट्य है। मद्रास प्रात का तिरुकुशू लोकनाट्य कटाई के बाद खेला जाता है।

नौटकी भौतिकता-प्रधान लोकनाट्य है। इसका प्रचार अधिकतर पजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश मे है। जीवन की व्यस्तता के कारण इसका प्रसार कुछ कम होता जा रहा है। स्वाग भी भवाई और नौटकी जैसा रात भर खेला

जाने वाला संगीत नाट्य है। महाराष्ट्र का तमाशा एक प्रसिद्ध लोकनाट्य है, जिसमें शृंगारिक कथाएं और शूरवीरता के कथानक दोनो ही पूर्णवेग के साथ अभिनीत किए जाते है। लोकनाट्य की दिशा में बहुरूपियो का भी महत्वपूर्ण योग रहता है। इनका कोई मच नही होता। ये यो ही किसी स्थान पर किसी वेश मे पहुच जाते है और वेशानुरूप कोई नाट्य करते है। बहुरूपियो से मिलता-जुलता मद्रास का पागल वेशम् लोकनाट्य भी होता है।

लोकनाट्यो मे ही पशुओ द्वारा किए जाने वाले नाट्यो को भी सफलतापूर्वक सम्मिलित किया जा सकता है। कही बाजीगर का तमाशा होता है, कही रीछ की क्रियाए दिखलाई जाती है, कही कोई मदारी बन्दरो-बदरियो को लिए हुए किसी गाव म पहुच जाता है और उनके द्वारा रूठने-मनाने, पीहर जाने आदि का अभिनय प्रस्तुत कर गाव वालो का मनोरजन करता है। लोकनाट्य के हास्य और मजाक के मूल म एक दुख या पीडा जरूर छिपी होगी, इसम कोई सदेह नही है।

लोकनाट्य बहती हुई नदी के समान है। लोकनाट्य की मूल प्रकृति को पकडना सभव नही है। उसका स्वरूप सतत बदलता रहता है, मनोरजन तो सामने आने वाली एक विशेषता है। लोकनाट्य मे मूल शब्द सतत परिवर्तित होते जाते है। आज दूरदर्शन के माध्यम का प्रभाव लोकनाट्य के शिल्प, सरचना और प्रस्तुतीकरण पर हो रहा है। प्रस्तुतीकरण के परिवर्तित रूप से ही हम उस युग की समसामयिकता को जान पाते है। लोकनाट्य को अभिजात्य नाटक की ओर अग्रसर होना है या अभिजात्य नाटक को लोकनाट्य की ओर अग्रसर होना है यह समझ में नही आ ता है। साठोत्तरी नाटककारो मे सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने अपने क्षेत्र मे पाश्चात्य साहित्य की ओर मुडे बिना नवीनता को अपनाया है, उन्होने अपनी पूर्वपरपरा का सभ पहलुओ मे अध्ययन कर उसको युगानुरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लोकनाट्य को आधुनिक परिस्थिति के अनुरूप रग-ढग मे बदलने का प्रयास भारतेन्दुजी ने भी अपने 'अधेर नगरी' के रूप मे लिया है। इसी प्रकार का प्रयास श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने अपने नाटक 'बकरी' म किया है। रघुवर दयाल वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक 'रगमच की भूमिका और हिन्दी नाटक' पृ० 390 पर कहा है —

" 'बकरी' का कथ्य एव वस्तु आम आदमी को प्रस्तुत करने वाला है। इतना ही नही नाटक की प्रस्तुति अर्थात शिल्प भी अपनी मिट्टी से व्युत्पन्न लोकधर्मी नाट्य-शिल्प स्पष्ट सकेत देता है कि नाटक को थियेटर की बद दीवारो और सीमित . ेको से अलग करके मच और जनता के निकट लाता है।"[3]

नौटकी और पारसी नाट्य शैली को अपनाने के बावजूद बकरी का शिल्प कुछ अपनी नवीनता प्रस्तुत करता है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने अपनी पुस्तक 'बकरी'

में पृ० 6-7 पर लिखा है—

"इस नाटक की निर्देशिका 'कविता नागपाल' ने नवीनता की ओर संकेत करते हुए कहा है—जहां नौटंकी मे साहसिक घटनाओं, पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंगों के अतिरंजित रूप आम जनता को संवेदित करते हैं, वहीं 'बकरी' का विशेष कथ्य उसे पारम्परिक नौटंकी शैली से थोड़ा हटाता हुआ एक तीखा सामाजिक व्यंग्य बना देता है। इस व्यंग्य को और भी तीखा बनाने के लिए नाटककारों ने पारसी रंगमंच और पुरानी नौटंकी की धुनों का उपयोग किया है, जिसके लिए भाषा की आम मुहावरेदारी और लयात्मकता बुनियाद का काम करती है।"[4]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'बकरी' सामाजिक एवं राजनैतिक अन्याय के विरुद्ध एक साधारण आदमी की असाधारण खीझ, गुस्सा और प्रतिरोध का दस्तावेज है।

लोकधर्मी नाट्य शैली द्वारा समकालीनता की प्रस्तुति के क्षेत्र में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत 'लडाई', विनोद रस्तोगी कृत 'नई लहर' तथा मणि मधुकर की दो नाट्यकृतियां रसगंधर्व' व 'दुलारीबाई' उल्लेखनीय नाट्यकृतिया कही जा सकती हैं। 'लड़ाई' मूलत: सर्वेश्वरदयाल जी की बहुचर्चित मार्मिक कहानी का नाट्य रूपांतर है, व्यवस्था की विसगतियो और सड़ते हुए समाज की विद्रूपता के खिलाफ आम आदमी की लडाई आज के दारुण संदर्भों का जीवन्त दस्तावेज है। 'नटरंग'—पृ० 59 अंक 35 मे लिखा है। " 'लड़ाई' एक प्रतिबद्ध नाटक के तौर पर देखकर सामाजिक, राजनीतिक दृष्टि से जागरूक रंग-कर्मियों और महज उद्देश्यो के लिए नाटक को हथियार की तरह इस्तेमाल करने वाले वामपंथी नाट्य दलो द्वारा इस नाटक के व्यापक स्वीकार की खासी सम्भावनाएं है।"[5]

लोकनाट्य रूप विधान लेकर नौटंकी शैली में लिखे गए 'लहर' नाटयकृति सौदागर तथा ग्रामीणो का प्रतीकात्मक एव अन्योक्तिपरक कथा के माध्यम से अंग्रेजों का भारत में आगमन शोषण तथा स्वांतत्र्योत्तर राजनैतिक स्थिति का चित्र प्रस्तुत करती है। मणि मधुकर की 'दुलारीबाई' मानवीय लालसा का विद्रूप चित्र है सुविधा और सुरक्षा की लालसा, जीवन की सहजता और प्रकृत प्रवाह को खडित कर देती है। इसीलिए उसके अंधेरे साये से बचकर जीवन की सहजता को प्राप्त करने का सदेश दुलारीबाई और कल्लू भांड की कथा से प्रस्तुत होता है। अपनी रूपकात्मकता से संप्रेषण के लिए नाटककार का लोकनाट्य शैली में ढले नौटंकी तर्ज के गीत विधान का प्रयोग इसका शिल्पगत नयापन है।

कॉमेडी नाटकों में संतोष नारायण नौटियाल के दो कॉमेडी नाटक 'पार्टियां', 'एक मशीन जीवन की' भगवतीचरण वर्मा की 'वसीयत' दयाप्रकाश सिन्हा की 'इतिहास चक्र' राजेन्द्रकुमार शर्मा की 'एक से बढ़कर एक', मणि मधुकर की

'दुलारीबाई' आदि नाट्यकृतियां उल्लेखनीय हैं तथा मराठी में विजय तेंडुलकर इसके उदाहरण हैं।

**उपसंहार**—संक्षेप में भारत का हिन्दी-मराठी लोकनाट्य अत्यंत समृद्ध तथा व्यापक क्षेत्रवाला है। इसमें लोकजीवन का पर्याप्त प्रतिनिधित्व देखा जाता है। लोकनाट्य समाज से उभरकर सामने आता है। भारतीय लोकनाट्य की कुछ झलकें नागरी नाट्य में मिलती है। अधिकांश लोकनाट्यों में लोकनृत्य भी सम्मिलित रहता है और अनेक प्रकार के गीत इन लोकनाट्यों की आत्मा के रूप में स्थित होते हैं। ढोल, नगाड़ा, तुरही, भेरी आदि वाद्यों का भी इनमें अधिक मात्रा में समावेश होता है। इस प्रकार मनोरंजन के लिए सभ्य जगत में जो अनेक परिष्कृत साधन अपनाए जाते हैं वे इन लोकनाट्यों में अपने नैसर्गिक रूप में विद्यमान रहते हैं। लोकनाटयों में रस की प्रधानता अनिवार्य रूप मे विद्यमान रहती है। लोकनाट्य एक नैसर्गिक धारा है जो अपना मार्ग अपने आप निश्चित करती है। जब तक हम लोकनाट्य के लचीलेपन को स्वीकार नहीं करते तब तक हमारा भारतीय रंगमंच पूर्णत: सफल नहीं होगा। लोकनाट्य की शैली लोकसामान्य तक पहुंचने वाली सशक्त शैली है।

लोकनाट्य मे लोक-मानस की अभिव्यक्ति होती रहती है। भारत की प्रत्येक भाषा के पास लोकनाट्य की सुदृढ़ परंपरा है। लोकनाट्य मानवी संस्कृति का आदिम रूप होते हुए भी वह एक गतिशील विधा है। एक ही समय वह अपने में परंपराएं, अंधश्रद्धाएं, लोक-कथाएं, लोकगीत तथा वेषभूषा को, तो दूसरी ओर अपने वर्तमान को भी समेटे हुए हैं।

(1) विकासात्मक दृष्टि से देखा जाए तो ऐसा महसूस होता है कि मराठी की अपेक्षा हिन्दी लोकनाट्य दो कदम आगे निकल चुका है किन्तु (2) प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि आज मराठी लोकनाट्य हिन्दी लोकनाट्य की अपेक्षा लोकमानस पर अधिक प्रभाव छोड़ता है।

**सन्दर्भ**

1. 'लोकनाट्य : परंपरा और प्रवृत्तियां' : डॉ० महेन्द्र भानावत
2. 'लोक साहित्याचे अंत:प्रवाह' : डॉ० प्रभाकर मांडे, पृ० 24
3. 'आधुनिक हिन्दी मराठी नाटक' में डॉ० माधव सोनटक्के ने यह उद्धरण दिया है। पृ० 75
4. वही, पृ० 75
5. वही, पृ० 81

# 'मन समझावन' और 'श्री मनाचेश्लोक'

डॉ० छगनलाल गौड

राजनैतिक परिवर्तनो के कारण मध्ययुगीन भारतीय समाज ने धार्मिक सघर्ष को झेला था। समाज-जीवन के स्तर पर यह सघर्ष अपने अनिष्ट दाम्भिक स्वरूप मे अधिक समय तक जारी नही रह सका, उसने सहिष्णुता और समन्वय का सहारा लेते हुए उदार एकतावाद को अपरिहार्य रूप मे उकसाया जिसका परिणाम यह हुआ कि सच्चे ज्ञान, शुद्ध धर्म और मानवता प्रेम क ज्योति कणो ने सारे सकुचित भेदो की व्यर्थता सिद्ध कर दी। यह समन्वय का अभियान था जिसने तनावग्रस्त मानसिकता को सहज और सुलझे हुए जीवन मूल्यो का बोध करा दिया था। हिन्दू-मुस्लिम सस्कृतियो की दो एकागी धाराओ मे शुद्ध विवेक की वाणी-धारा का सयोग कराते हुए भारतीय जन-मानस को पवित्र सगम की भूमि बना दिया था। इस अभियान की बागडोर सूफी भक्तो और ज्ञानमार्गी सतो के हाथ मे थी। इन महापुरुषो मे जिनका नाम गौरव के साथ लिया जा सकता है, उनमे शाह तुराब और समर्थ रामदास दोनो का स्थान बहुत ऊचा है।

'शाह तुराब' सुदूर दक्षिण मे जन्मे एक सूफी सत थे। सूफी तो वे केवल भौतिक रूप मे ही कहे जा सकते है, वस्तुत मानसिक स्तर पर वे शुद्ध विवेकी पुरुष थे। वे सच्चे खोजी पुरुष थे, जिन्हे दभ से घृणा थी, भेद से अलगाव था, ज्ञान की लालसा थी और विवेक मे निष्ठा थी। उनके इस व्यक्तित्व की साक्षी, उनकी सभी आठ रचनाए देती है। वैसे सूफी सम्प्रदाय इस्लाम का ही अग माना जाता है, लेकिन वास्तव मे सूफी 'कूप मडूक' कभी नही रहे। वे खुली हवा और मुक्त ज्ञान प्रेमी रहे है। इसी प्रवृत्ति ने उन्हे इस्लाम से काफी दूर, भारतीय वेदात के निकट पहुचा दिया था।[1] इसी प्रवृत्ति ने उन्हे दुराग्रह और सघर्ष से विमुख समरसता और समन्वय का पथगामी बना दिया था।[2] इसी मनोभूमि के कारण शाह तुराब ने जब महाराष्ट्र के सत श्रेष्ठ समर्थ रामदास की मराठी रचना—'श्री मनाचेश्लोक' को तजौर मे सुना तो भाव गद्गद हो गये और तुरत निश्चय किया कि वे इसका 'जवाब' दकनी-हिन्दी मे देगे।[3]

शाह तुराब द्वारा वक्तव्य में जवाब शब्द का प्रयोग करने से यह धारणा बनती है कि शायद तुराब, रामदास की रचना से असतुष्ट होकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना चाहते हं किन्तु यह भ्रम 'मन समझावन' को पढ़ना आरभ करते ही धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है। 'जवाब' शब्द का प्रयोग तुराब ने विरोध के अथ मे नही अपितु सराहना के भाव से ही किया है। 'मराठी' मे ऐसी सुन्दर रचना को देखकर उन्हे प्रेरणा हुई कि हिन्दी मे भी इसी भाव और स्तर की रचना होनी चाहिए। अत जवाब' शब्द का प्रयोग उन्होने 'समतुल्य' अर्थ मे ही किया है। यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि तुराब 'श्री मनाचेश्लोक' को देख कर इतने आकर्षित और श्रद्धानत हुए कि उस जैसी ही रचना हिन्दी-दकनी मे प्रस्तुत करने का निश्चय कर तुरत कार्य आरम्भ कर दिया। अपनी रचना के नामकरण मे भी उन्होने 'श्री मनाचेश्लोक' मे उसकी समानता घोषित की है। परन्तु इस समानता का अर्थ ... यह नही समझना चाहिए कि 'मन समझावन ... 'श्री मनाचेश्लोक' का हिन्दी रूपातर है। यदि रूपातर ही करना होता तो तुराब 'जवाब' शब्द का कदापि प्रयोग नही करते। निस्सदेह 'मनाचेश्लोक' 'मन समझावन' का प्रेरणा स्रोत है किन्तु यह बात भी निस्सन्देह कही जा सकती है कि 'मन समझावन' तुराब की अपनी मौलिकता लिए हुए है। यह मौलिकता विषयबोध और निरूपण दोनो ही पक्षो मे दिखाई देती है। दोनो रचनाओ के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

समर्थ रामदास दृष्टा महात्मा-युग पुरुष थे। अनेक वर्षों के आध्यात्मिक चिन्तन तथा सामाजिक अवलोकन का परिपाक 'श्री मनाचेश्लोक' मे उतर आया है। मराठी साहित्य मे ... गीता के समान ही 'अपौरुषेय वाणी' विशेषण से गौरवान्वित किया गया है। इस ग्रथकार ने विविध विचार व्यक्त किए है। कदाचित इन श्लोकों की रचना प्रसगानुसार हुई होगी और अतत किसी निमित्त से ही उन्हे एकत्र किया गया होगा। इन 205 श्लोकों का विषयानुसार वर्गीकरण नही किया गया है। तब भी श्री पागारकर ने इन्हे तीन रूपो मे रखा है।' सगुण भक्ति, निर्गुण बोध तथा सगुण-निर्गुणातीत शुद्ध स्वरूप। हमारी दृष्टि से अध्ययन के लिए इनके दो वर्ग करना ही पर्याप्त होगा – ... भक्ति के श्लोक एक वर्ग मे आते है तो ... के सामाजिक जीवन के लिए मार्गदर्शक चिंतन दूसरे वग मे।

'प्रभात मनीराम चिन्तीत जावा' तथा 'मना सज्जना राघवी वस्ति कीजे' जैसे श्लोको मे उनकी उत्कृष्ट सगुण राम भक्ति का बोध होता है तो दूसरी ओर अनेक देवी-देवताओ को भजने की मूर्खता त्याग कर एक ही सर्वोत्तम की उपासना करने की बात –'जगी धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा' तथा 'अनेकी सदा एक देवासि पाहे' जैसे श्लोकों मे कही गई है। वस्तुत रामदास ने निर्गुणोपासना को ही श्रेष्ठ माना है, इस विषय मे हमे कोई सन्देह नही।[6] जब-जब उनके मन मे निर्गुण

की आसक्ति प्रबल होती थी वे मूर्तिपूजा और बहुदैववाद का खंडन करने लगते थे। ऐसे समय वे सामान्य पत्थर और पाषाण-मूर्ति में कोई अंतर नहीं देखते—

देवे निर्मिली हे क्षिति। चिचे पोटी पाषाणें होती।।
तयासचि देव म्हणती। विवेक हीन।। (दा. बो. 8. 1. 26)

इसी प्रकार – 'सकळ देवतांचे मूळ। तो हा अंतरात्माचि के बल' जैसी उक्तियों में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे 'एकोब्रह्म परामयः' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' के अद्वैतवादी सूत्रों को अपने मन में बसाये हुए है।

शाह तुराब की मनःस्थिति भी 'मन समझावन' में ठीक रामदास जैसी ही दिखाई देती है। वे भी राम के उपासक है। अंतर केवल इतना ही है कि वे सगुण अवतारस्प राम के नहीं निर्गुण-निराकाररूप सर्वव्यापी राम के आराधक है।[7] नाम की समानता होते हुए भी स्वरूप का भेद तो है ही और शायद इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए शाह तुराब ने अपने वक्तव्य में 'जवाब' शब्द का प्रयोग किया था। वे रामदास की सगुण भक्ति से असंतुष्ट उतने नहीं, जितने अपने दृष्टिकोण के आग्रही है। इसी कारण उन्होने खंडन का मार्ग न अपनाते हुए, सीधे-सीधे अपनी बात कह देने का मार्ग अपनाया है। फिर भी उनके 'जवाब' शब्द से असहमति तो प्रकट हो ही जाती है। हम ऊपर देख आये है कि रामदास भी निर्गुणोपासना को ही श्रेष्ठ मानते है, सामान्य जनों के लिए ही व्यावहारिक दृष्टि से वे सगुणोपासना को साधनरूप में स्वीकार करते हैं। अतः इन दोनों महात्माओं की अंत धारणा में कोई भेद नही है। फिर सूफी साधक भी तो 'इश्केहकीकी' की ओर 'इश्के मजाजी' के माध्यम से ही अग्रसर होता है। अंतर इतना ही रहता है कि सूफी भौतिक आकार में भी आध्यात्मिक व्यक्तित्व के गुणों को देखता है, जबकि सगुणोपासक इष्ट के पारमार्थिक तत्व को नही अपितु भौतिक व्यक्तित्व को देखता है। सगुणोपासना और सूफी साधना के इस अंतर को ध्यान में रखकर विचार करने पर ही शाह तुराब के असंतोष या 'जवाब' को ठीक से समझा जा सकता है। तुराब भारतीय सगुण दर्शन की तुलना में सूफी तसव्वुफ-रहस्य-दर्शन को खडा करके अपने पक्ष का बड़ी कुशलता से निरूपण करना चाहते हैं। अपना यह लक्ष्य उन्होंने 'मन समझावन' में पूरी तरह साध्य किया है। इसी में उनका 'जवाब' शब्द सार्थक लगता है।

प्रायः संपूर्ण दकनी-हिन्दी साहित्य में सूफी संतों का एक ही प्रयत्न दिखाई देता है कि वे अपने इस्लामी (सूफी) सिद्धांतों कों स्थानीय जन समाज के लिए सहज रूप में सुलभ कराना चाहते हैं। लेकिन शाह तुराब इतने एकांगी नहीं हैं। उनकी यह रचना दकनी-सूफी साहित्य में बिलकुल अलग दिखाई देती है और एक विशिष्ट स्थान रखती है। इसमें पहली बार हिन्दू और इस्लामी धार्मिक विश्वासों को बहुत ही उदार दृष्टिकोण और संतुलन के साथ प्रस्तुत किया गया है।[8] इसी

गुण के कारण 'मन समझावन' सर्वग्राह्य और लोकप्रिय सिद्ध हुआ है।

शेष सारी विषयवस्तु इन दोनों ग्रंथों में प्राय: एक समान है। किसी-किसी पद में तो अनुवाद का-सा आभास होता है। इस संदर्भ में कुछ उदाहरणो पर विचार कर लेना उपयोगी होगा। संसार की क्षण भंगुरता, निस्सारता का चित्रण दोनों ने किया है। दोनो का उद्देश्य जीवन के उच्च मूल्यो की व्याख्या करते हुए व्यक्ति और समाज के चरित्र को ऊंचा उठाना है। नैतिक सुधार के लिए ही रामदास ने प्रबोधन किया है कि यह मन, काम, क्रोधादि षड्रिपुओ से बचे- -

नकोरे मना क्रोध हा खेदकारी।
नकोरे मना काम नाना विकारी॥
नकोरे मना सर्वदा आगिकारू।
नकोरे मना मत्सरु दंभ भारू॥

इसी बात को शाह तुराब ने अपने ढग मे कहा है --

हवा, हिर्स गुस्से का संगात कर मत।
क्रोध, काम हौर लोप का पाप कर मत॥
अरे मन तूं माया का सौरात कर मत।
हसूदा की तू बात पों घात कर मत॥
हवा-मोह हिर्स-ईर्षा सौगत।
लालसा हसूदा-ईर्षालू॥

अहकार तो सब में भरा है, यह हमारा शत्रु है। भक्त का सबसे पहला काम अहं का 'इदम्' में विसर्जन करना होता है। अहंकार अविवेक का परिणाम है, विनय ज्ञान की चरम सीमा है। इस सीमा पर ही परम सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। अहंकारी भटकता है, विनयी आत्मलीन रहता है। उस परम तत्व का आत्म-रूप साक्षात्कार उसे हो जाता है। उसके लिए बस एक ही शर्त है। अहंकार का विसर्जन।[9] रामदास कहते है

फुटे ना तुटे ना, चळे ना ढ़के ना।
सदा संचले मी पणे, ते कळे ना॥
तथा एक रूपासि दुजान साहे।
मना संत आनत शोधांनि पाहे॥ (147)

शाह तुराब ने भी इस 'मैपणे' के विसर्जन को जरूरी बताया है—

सटो मैंपना हौर बाधों कमर कू
उठोजी, उठों अब चलो जायं घर कू॥

देह की नश्वरता और लोभ की व्यर्थता के साथ संसार के सारे ही सम्बन्धों की व्यर्थता को रामदास ने अनेको श्लोको में दुहराया है पुनर्जन्म का फेरा लोभ-वाचिक कर्मों का ही फल है। धन-दारा, बच्चे यही छूट जाने वाले है। शाह तुराब ने भी इन विचारों को बड़ी सुदरता से व्यक्त किया है —

अरे मन तू इस तन को की प्यार करता।
जमी के बिछाने सूँ की आर करता॥
अरे मन तूं धन माल पर ना अकडना।
है आखिर तुजे कलको माटी मे गडना॥

रामदास ने श्लोक 107, 108 मे सतसगति को महत्वपूर्ण बताया है। सद्‌गुरु ही निर्मल ज्ञान मे आत्मा को उज्ज्वल कर देता है। शाह तुराब भी सदमगति मे ही कृतार्थता मानते है। 'मन ममझावन' की बारह बहरो मे से पूरी एक बहर के 24 छद उन्होने सज्जन महिमा और मद्‌गुरु स्तुति को समर्पित किये हैं।[10]

उद्देश्य तथा भाषा शैली की दृष्टि से भी इन दोनो ग्रथो मे पूरी समानता एव एक स्तरता है। दोनो का उद्देश्य मन का प्रबोधन है, भक्ति मार्ग की शिक्षा देना है। दोनो ही ग्रथ जन मामान्य के लिए रचित है, अत स्वाभाविक रूप मे इनकी भाषा शैली मरल तथा मुबोध है। अलकारो की चमत्कृति को यहा कोई स्थान नही है। कथन शैली तथा छद तक मे ये दोनो ग्रथ समान हे। मन के प्रति मम्बोधन शैली की ममानता मुख्य रूप से दर्शनीय हे –

**रामदास** 'मना पाप मकल्प गोडोनी धावा।
**तुराब** 'अरे मन ! गगन महल का घाट चढना॥

दोनो ही ग्रथकारो ने ग्रथ के अतिम अश मे प्रश्नोत्तर शैली को स्थान दिया है।

**रामदास प्रश्न** – 'वसे हृदयी देव तो कोण आहे ?
पुस आदरे साधकू प्रश्न ऐसा॥
देह टाकिना देव कोठे रहा तो ?
परी मागुता ठाप कोठे पहानो॥'
**उत्तर** --'वसे हृदयी देव ता जाण ऐसा।
नभाचे परी व्यापकू जाण तैसा॥'

**तुराब : प्रश्न** –'गुरुजी कहो रामजी का अथे तब।
न था कुछ यो मडान परपच का जब॥'
**उत्तर** अथे रामजी तो निराकार निरधार।
हुआ 'कुन' सू मुन तो बचा सारा विस्तार॥

'मनाचेश्लोक' मे सर्वत्र 'भुजगप्रयात' वर्ण वृत्त का प्रयोग किया गया है। इस छद का नाद सौदर्य श्रोता को सहज मुग्ध करता है। काव्य की लोकप्रियता मे प्राय. नाद माधुर्य का हाथ होता हे। ऐसी स्थिति में मनसमझावनकार जैसा गुणग्राहक इस छद की ओर आकर्षित न होता तो ही आश्चर्य होता। अत. दोनो ग्रथो मे 'भुजगप्रयात' की व्यवस्था दिखाई देती है—

**रामदास—** **घटीं कामधेनू पुढेताक मागे ।** (चार यगण)
**हरीबोध सांडूनि वेपाद लागे ॥** (चार यगण)
**तुराब—** **सदा राम केनाम सूं काम हैगा ।** (चार यगण)
**वही ताकिये बज्म गुल्फाम हैगा ॥** (चार यगण)

परन्तु तुराब ने छंद के प्रयोग में भी मौलिकता बरती है। उन्होंने भुजंगप्रयात की गुरु-लघु-वर्ण संख्या शैली का अनुकरण नहीं किया है, बल्कि 'बहरे मुतकारिव' शैली का अवलम्बन किया है ? दूसरी बात यह है कि तुराब ने अपना छंद चार पंक्तियों वाला न रख कर छः पंक्तियों वाला बना लिया है । तुराब ने अपने ग्रंथ को विषयानुसार बारह भागों में व्यवस्थित किया है, शायद इसी कारण कुछ पाण्डुलिपिकारों ने इस ग्रंथ का 'बारहबहर' नामकरण कर दिया। इन बारहों बहरों में तुराब ने सर्वत्र छः पंक्तियों वाले छंद रखे है। लेकिन प्रत्येक बहर छदों की अंतिम दो पंक्तियों का ठेक के रूप में प्रयोग किया गया है। और ये ठेके की पंक्तियां प्रत्येक बहर में बदल जाती हैं। इस ठेके मे ही उस बहर का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सूचित हो जाता है। इस प्रकार एक ओर तो विषयगत व्यवस्था आ गयी है, दूसरी ओर ठेके की आवृत्ति से उसमें लोकगान शैली की मिठास आ गयी है। इसी ठेके की व्यवस्था रामदास ने भी कहीं-कहीं अपनाई है। श्लोक 27 के आगे कुछ श्लोकों में अंतिम पंक्ति की आवृत्ति होती है।

**निष्कर्ष स्वरूप** हम कह सकते हैं कि 'मन समझावन' और 'श्री मनाचे-श्लोक' दोनों ही रचनाएं कुछ समानताएं तथा कुछ मौलिक विशेषताएं रखती हैं। दोनों का विषय एक ही है, अतः नाम भी समानता लिए हुए हैं। जीव, जगत और ब्रह्म के सम्बन्ध में दोनों ग्रंथ दो भिन्न धर्मों और संस्कृतियों की चिंतन धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए भी उनमें कहीं कोई कटुता नहीं दिखाई देती। इस संदर्भ में तुराब अधिक उदार तथा सराहना के पात्र है। समर्थ रामदास ने सत्य को व्यावहारिक और तात्विक दोनों दृष्टियों से परखा है जबकि शाह तुराब उसे केवल तात्विक दृष्टि से परखते हैं। दोनों ही ग्रंथो ने। दोनों ही महात्मा मन को आलोकित करना लक्ष्य मानते है'

शाह तुराब सच्चे महात्मा थे। उनमें सहिष्णुता और उदारता थी ! वे भेद में अभेद को देख रहे थे। राम और रहीम की एकता को परखकर ही उन्होंने 'श्री मनाचेश्लोक' अपना प्रेरणास्रोत बनाया था।

लोकप्रियता एवं प्रतिष्ठा की दृष्टि से तुराब उतने सौभाग्यशाली नहीं रहे, जितने समर्थ रामदास ! इस बात का खेद तुराब के मन में घर किये हुए है किंतु इसमें उनका अपना क्या दोष ? वस्तुतः उनके गुणों का ग्राहक कोई नहीं मिला। उनके विनय और खेद के भाव को देखिए—

'समजकर हिन्दू राज आया तंजावर।
सकल जग के दर्म्या धरमराज सुनकर ॥

व लेकिन मिजे कोई बुलाया नहीं थैर।
समज कबीरा-सा ज्ञानी कलंदर॥ (142)

उन्हें आदर नहीं मिला तब भी वे समर्थ रामदास, केशवदास, भीमास्वामी, सतूबा जैसे सारे ही ज्ञानियों के प्रति पूरा आदर और विनय भाव व्यक्त करते हैं तथा उनसे जरूर गुण ग्राहकता की अपेक्षा करते हैं [11]—

सन्दर्भ

1. डॉ० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
2. डॉ० निर्मल कुमार वर्मा—सूफी मत और हिन्दी साहित्य
3. "ए उसकी 'मन की पोती' का जवाव है के जिसका रामदास खिताब है।
   मरट्टी बात में पोती व्व बोल्या, मैं इसका रमज सब दकनी में खोल्या
   भी 'मन समझावन' उसका नाम रखा व लेकिन सरबस हिन्दी है भाका।'
   पुन: -
4. तंजापर में जिस रोज हुआ आको दाखिल
   सुन्या रामदास की तो पोती है कामिल
   गया सुन खुशी से दिल का कंवल खिल
   जवाब इसका कहना हुआ शोक-ए-कामिल। (136)
5. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, खंड 3, पृ० 502-503
6. निराकार आधार ब्रह्मादिकांचा। जया सागतां शीणली वेदवाचा॥
   विवेकें तदाकार होऊनि राहें। मना संत आनन्त शोधूनि पाहे॥ (148)
7. (अ) सिफत कर अव्वल उसकी जो राम हैगा।
   उसी रामसूं हमको आराम हैगा॥
   सदा राम के नाम सूं काम हैगा।
   हमन ध्यान उसका सुबह श्याम हैगा॥
   (ब) न को रामकूं धूंड चमने चमन में।
   न समदूर में ना तो सातों गगन में॥
   जगा जाते उसकाच है सब रुखन में।
   भरा आत्माराम हर एक के तन में॥
8. मन समझावन -'शाह तुराब व्यक्तित्व और कृतित्व', श्रीमती डॉ० सैयदार जाफर
9. जनीं मी पणें पाहतो पाहवे ना। तया लक्षिता वेगळे राहवे ना॥ (156)
10. तुरब के वही भेद को पछानेंगे रे। जिस सद्गुरु राह दिखलायेंगे रे॥
11. कहां रामदास हौर केसूदास पाऊं।
    मेरा दर्द व गम सब को विठला सुनाऊं॥
    ले जाकर मेरे इस बचन को दिखाऊं।
    अगर नई तो भीमास्वामी पास जाऊं॥
    सतूबा महाराज गुनवंत आकिल।
    तेरे वेद का भेद पानी करे दिल॥ (190)

# लक्ष्मीनारायणलाल और विजय तेंडुलकर

डॉ० अनीता राजूरकर

हिन्दी विभाग मराठवाड़ा विश्वविद्यालय एवं महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित 'तुलनात्मक अध्ययन संगोष्ठी' का निमंत्रण-पत्र पाकर मस्तिष्क में बिम्ब उभरा— तौल तौलना, किसी एक बात को किसी दूसरी बात से तौलना। प्रस्तुत संगोष्ठी में हिन्दी भाषा एवं साहित्य का अन्य किसी भारतीय भाषा एवं साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित था।

महाराष्ट्रवासी होने के नाते मराठी साहित्यिक कृतियों का पठन होता ही रहता है। वैसे भी नाटक यह साहित्य की ऐसी विधा है जिसके लिए भाषा उतना महत्व नहीं रखती जितना अन्य साहित्य विधाओं के लिए महत्व रखती है। नाटक की एक रंगमंचीय भाषा भी होती है, उसी के द्वारा वह जन सामान्य तक पहुंचता है। रंगमंच के माध्यम से ही मराठी साहित्य के सुप्रसिद्ध नाटककार विजय तेंडुलकर लिखित नाटक 'सखाराम बाइंडर' मेरे तक पहुंचा। हिन्दी साहित्य का अध्ययन-अध्यापन करते हुए डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'अंधा कुआं' नाटक का अध्ययन किया हुआ था।

तुलना उन्हीं दो कृतियों में हो सकती है जिनमें काफी समानता हो किन्तु साथ ही कुछ विषमता हो। ऐसी स्थिति में 'तुलनात्मक अध्ययन संगोष्ठी' के अपने आलेख के विषय के सम्बन्ध में मेरे विचारों ने निःसंदिग्ध रूप धारण किया कि हिन्दी नाटक 'अंधा कुआं' और मराठी नाटक 'सखाराम बाइंडर' की तुलना हो सकती है। प्रस्तुत आलेख में इन्हीं दो नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। 'अंधा कुआं' के रचनाकार हैं डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल और 'सखाराम बाइंडर' के रचनाकार हैं विजय तेंडुलकर।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का हिन्दी नाटक साहित्य और विजय तेंडुलकर के मराठी नाटक साहित्य की रचनाएं समकालीन हैं। दोनों का प्रथम नाटक सन् 1955 में ही प्रकाशित हुआ। दोनों बहुमुखी साहित्यकार हैं। दोनों ने कथा, कहानी, लेख, एकांकी आदि अन्य साहित्य विधाओं का सोपान चढ़कर नाटक

साहित्य पर अपना लक्ष्य विशेष रूप से केन्द्रित किया है। इन दोनों नाटककारो की विशेष गुणवत्ता यह है कि वे सिर्फ नाटक मात्र के रचनाकार नही है अपितु सुप्रसिद्ध रंगकर्मी भी है। जिसके कारण उनके नाटको को रगमंचीय महत्व प्राप्त है।

रगमचीय नाटक प्राचीनकाल से सर्वत्र लोकप्रिय साहित्य विधा है। स्वभावत. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल और विजय तेंडुलकर अपने-अपने क्षेत्र मे लोकप्रियता के शिखर पर है। लोकप्रियता के अलावा चर्चित एव विवादास्पद भी है क्योकि इन्होंने पारम्परिक भारतीय नाटक साहित्य को आधुनिक काल के रग मे ढाला है। विषय-वस्तु रगमचीय तन्त्र आदि की नवता के कारण इन्हे क्रान्तिकारी नाटककार कहा गया और साथ ही कोर्ट-कचहरी का मुकाबला करते हुए अपने नाटको को देश-विदेश में पहुचाया। ससार मे बिखरे इधर-उधर अपने दृष्टिपथ के नाट्य का समेटकर नाटक रचने वाले इन नाट्यकर्मियो को पत्र-पत्रिका, नाट्य समीक्षक, रसिक दर्शक, कानून आदि द्वारा स्वय को सघर्ष का नाटग अनुभव करना पडा फिर भी इन दोनो नाटककारो के लगभग पच्चीस-पच्चीस नाटक है। डॉ० लाल और तेंडुलकर के नाटको का तुलनात्मक अध्ययन प्रबन्ध की माग करता है, इसीलिए प्रासंगिक रूप मे उनके एक-एक नाटक पर ही विचार किया जाए। प्रस्तुत आलेख में डॉ० लाल का प्रथम नाटक 'अधा कुआं' और तेंडुलकर का बहुचर्चित नाटक 'सखाराम बाइडर' पर ही विचार किया गया है।

डा० लाल का 'अधा कुआ' उनका प्रथम नाटक है और वह उन्होंने सन् 1955 मे लिखा है। तेंदुलकर का प्रथम नाटक 'श्रीमन' सन् 1955 मे ही खेला गया जो असफल रहा। उनका बारहवा नाटक 'सखाराम बाइडर' है जो सन् मे प्रकाशित हुआ। 'अधा कुआ' और 'सखाराम बाइडर' दोनो मे मानवीय मन और मानवीय आपसी सम्बन्धो का सूक्ष्म चित्रण है। पुरुष के 'अहं' सतुष्टि के अनेक रूप है, साथ ही नारी की यातनामय जीवन से छुटकारा पाने की कोशिश है।

'अधा कुआ' नाटककार के अपने गाव जलालपुर की आखो देखी सत्यकथा है। भगौती और सूका पति-पत्नी है। कानून के सहारे भगौती सूका को उसके प्रेमी इन्दर के पास से वापस ले आया है। भगौती अपने पुरुषी अह के अपमान का बदला लेने के लिए सूका को रोज मारपीट करता है, भूखा रखता है, नये वस्त्र पहनने नही देता। शारीरिक अत्याचारो के साथ ही मानसिक यातनाओं के लिए भगौती दूसरा विवाह कर उसे सौत लाता है। सूकी यातनाओ से छुटकारा पाने कुए मे कूद जाती है, लेकिन कुआ अधा है (सूखा कुआं) वह कुएं से निकाली जाती है। भगौती उसे खमिया से बाध देता है। रात मे प्रेमी इन्दर उसे अपने साथ ले जाना चाहता है। सूका जान-बूझकर चोर-चोर पुकार कर प्रेमी को भगा देती है क्योकि उसने भगौती से अर्थात् पारम्परिक बन्धनो से छूटने के सब मार्ग टटोल लिए है। इन्दर के साथ

भागकर, अदालत से छूटने के बाद वापस आकर; रोज-रोज मार खाकर, कुए में कूद कर लेकिन कहीं उसे सहारा नहीं मिला। पारम्परिक रूप से पति भगौती का संग ही उसकी नियति है और नियति को हसते-हसतेस्वीकार करना ही पारम्परिक भारतीय पत्नी की मर्यादा है।

सूका सौत लच्छी को उसके प्रेमी हीरा के साथ भाग जाने मे पूरी सहायता करती है। एक रात इन्दर रोगजर्जर भगौती को मारकर सूका को अपने साथ ले जाना चाहता है। परन्तु अब की बार सूका गंडासा लेकर इन्दर का ही सामना करती है और पति भगौती को बचाते हुए प्रेमी इन्दर के प्रहार से स्वय मर जाती हे।

नाटककार कथाकार के माध्यम से कहता है कि सूका मरी नही बल्कि भगौती के लिए उसी दिन से जीवित हो गई। आगन मे वह खडी दिखाई देती हे और भगौती उसे एकटक निहारा करता है।

'सखाराम बाइडर' नाम से ही पता चलता है कि वह पुस्तके बाइड करने वाला एक आर्थिक दृष्टि से अति सामान्य व्यक्ति है। जन्म से वह ब्राह्मण है किन्तु हालात ने उसे पशु-तुल्य जीवन जीने को बाध्य किया है। विवाह के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। शायद इसीलिए विवाह बन्धन की अपेक्षा पाश्चात्य सास्कृतिक विचारो के अधीन लेखक का सखाराम बिना विवाह के ही रहना चाहता हे। भारतीय सस्कृति में विवाहित स्त्री की स्थिति को वह पूर्णतः जानता है। भारतीय स्त्री का विवाहपूर्व पिता का और विवाह के उपरान्त पति का घर होता है, जिस घर में से वह सतयुग से कलियुग तक बराबर निकाली जाती रही है। विजय तेंडुलकर ने इसी बात को मद्देनजर रखकर सखाराम के जीवन को सवारा है। त्रेतायुग मे सीता को आसरा देने के लिए ऋषि वाल्मीकी थे किन्तु आज तो सखाराम है जो पति द्वारा घर से निकाली स्त्रियों को कहता है कि यह सखाराम का घर है, मैं यहा राजा हू, मेरी इच्छाओ के अधीन यहा रहना होगा। मेरी शारीरिक मागों को भी पूरा करना होगा। सिर्फ शरीर सम्बन्ध के जितना ही वह कहता है 'पत्नी सारख वागाव' लागेल' बाकी अधिकार कुछ नही रहेगा, मान्य हो तो रहो अन्यथा सखाराम के घर का दरवाजा खुला है।

'अधा कुआं' और 'सखाराम बाइडर' दोनो दो भिन्न भाषाओ में लिखे नाटक रहते हुए भी दोनों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धो का उलझा-सुलझा रूप एक ही है। 'अधा कुआ' में ग्रामीण परिवेश है, पारम्परिक रूढ़ियों से बधे वैवाहिक स्त्री-पुरुष सम्बन्ध है। नाते-रिश्तेदार हे, गाव के अन्य लोग है, कुछ सत् गुणों के कुछ असत् गुणो के है। परिस्थितियों के अनुसार पत्नी सूका ने अपने को ढाल लिया है किन्तु स्वय के यातनामय भोग को दूसरे नारी पर डालने से वह इन्कार करती है। सौत लच्छी को उसकी इच्छाओं से जीने का सम्बल देती है और स्वयं नियति के भोग का

व्यग्य मुस्कान के साथ स्वागत करती है।

सखाराम बाइडर घर से निकाली गई नारी को स्वार्थवश कुछ दिनो के लिए आसरा देता है। शहरी वातावरण मे आर्थिक निम्नवर्ग का यह चरित्र है। पति मे प्रताडित नारी फिर पुरुष मे पीडा सहने को बाध्य होती है क्योंकि उसका अपना कोई घर नही, कोई आर्थिक सत्ता नही। प्रथम स्त्री लक्ष्मी पतिगृह से निकालने के बावजूद पुरुष के प्रति पारम्परिक गुरु भावना को मानती है क्योंकि उसे कभी अपने अस्तित्व का एहसास ही नही हुआ था। द्वितीय स्त्री चम्पा अपने अस्तित्व को अपने अतराफ के हालात मे बनाये रखने की कोशिश करती है। उसकी अपनी इच्छाओ का महत्व है। प्रथम स्त्री लक्ष्मी के समान उसके जीवन का सर्वस्व केवल पुरुष की सेवा करना मात्र नहीं है।

'अंधा कुआ' हो या 'सखाराम बाइडर' दोनो मे स्त्री की स्थिति विदारक है क्योकि उसका अपना कोई घर नही, उसकी कोई सत्ता नही, उसकी सत्ता है केवल उसका स्थूल शरीर जो पुरुष द्वारा भोगा जाता है, चाहे पति हो, चाहे आश्रय देने वाला कोई सखाराम जैसा पुरुष। 'अधा कुआ' का पति भगौती तो पत्नी सूका को मानसिक यातना मे तडपते देखने मे सुख पाता है। जब सूका की मानसिक यातनाओ की स्थिति 'दर्द का हद मे गुजरना है दवा हो जाना।' जैसी हो गई है, वह अब दर्द का एहसास ही नही करती तब भगौती तिलमिला जाता है। वह सडिस्ट है। सखाराम का स्त्री को कोई लगन बन्धन नही इसीलिए उसके आश्रित स्त्री के साथ सम्बन्ध ऐसे ही है जैसे 'जब चाहा तब पास (प्यार) किया, जब चाहा दुत्कार दिया।' फिर भी अनजाने ही सही उसके पास रहने वाली स्त्री का प्रभाव उस पर पडता है। लक्ष्मी के साहचर्य मे सखाराम भगवान की पूजा करने लगता है, शराब पीना कम करता है जबकि चम्पा के साहचर्य म वह रात-दिन शराब पीने लगता है और शारीरिक वासना में लिप्त रहता है।

'अधा कुआ' के भगौती मे अपने ग्रामीण सामाजिक परिवेश का एहसास है। समाज मे अपने स्थान के प्रति, लोकप्रवाद के प्रति, अपने पुरुष तथा पति 'अह' (इगो) के प्रति अत्यधिक सजगता है। अकेले व्यक्ति की अपेक्षा सामाजिक मर्यादा से बधे व्यक्ति का महत्व है।

'सखाराम बाइडर' का सखाराम शहरी यान्त्रिक युग का प्रतिनिधित्व करता है। समाज, समाज मे अपना स्थान, लोकप्रवाद आदि स सखाराम का कोई सरोकार नही। जहा अपने अस्तित्व का ही भान नही वहा 'अह' का प्रश्न ही नही उठता। महानगरीय मनुष्य यन्त्रो के साथ भाव शून्य यन्त्र बन गया है। सखाराम की नजर में औरत एक घरेलू नौकर के समान है जो घर के सारे काम भी करे और उसकी अन्य आवश्यकताए भी पूरी करें। सखाराम के जीवन मे व्यक्ति का महत्व है जिसका कोई समाज ही नही।

भगौती सामाजिक परम्परा का पालन करते हुए अपने जीवन मे दो पत्निया करता हे, जब कि सखाराम को परम्परा क्या है नही मालूम, वह स्वच्छन्द है। उसने अनेक स्त्रियो को अपने घर रखा, कोई उसका घर छोडकर चली गई और किसी का सखाराम द्वारा घर से निकाल दी गई। सखाराम के जीवन में आयी चम्पा उसी के घर मे उसके सभी आदेश सुनने से इन्कार करती है। भगौती की प्रथम पत्नी सूका उसके घर मे मजबूरी से रही, तो दूसरी पत्नी लच्छी अपने प्रेमी के साथ चली गई, भगौती की उसने परवाह नही की। भगौती लच्छी को खरीदकर लाया था।

अर्थात कुछ स्त्रिया पुरुष के वर्चस्व को मानने से इन्कार कर अपनी इच्छानुसार कुछ अशो मे जी पाती है अथवा जीने की कोशिश करती है। यह कोशिश ही स्त्री जाति का जीवन प्रशस्त करेगी और यही वह केन्द्र बिन्दु है जो डा० लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक 'अधा कुआ', और विजय तेंडुलकर का नाटक 'सखाराम बाइडर' को एक सूत्र मे जोड़ता है।

सदर्भ ग्रथ

1 अधा कुआ - डा० लक्ष्मीनारायण लाल
2 सखाराम बाइडर विजय तेंडुलकर
3 नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना- -नरनारायण राय
4 तेंडुलकर यांची नाटके—डा० चन्द्रशेखर बर्वे
5 बाइडर चे दिवस -कमलाकर सारंग
6 नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल डा० सरजूप्रसाद मिश्र

# मोहन राकेश और विजय तेंडुलकर

श्रीमती लीला दलवी

समाज से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक में समाज एवं युगीन परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण अधिक संभव होता है। नाटक और रंगमंच की दृष्टि से छठे दशक से हिन्दी नाटक का नया इतिहास आरम्भ होता है। यहा हिन्दी नाट्यप्रवाह एक नया मोड़ लेता है। इसमे रंगमंच सापेक्ष युग-जीवन से जुड़ने की सार्थक बेचैनी है। हिन्दी और मराठी नाटकों का जब हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो एक बात स्पष्ट होती है कि मराठी नाटकों के रंगमंच से जुड़े होने की परंपरा पुरानी है जबकि हिन्दी के प्रारभिक नाटकों में उसकी मचीयना की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया। इस कारण नाटको का केवल साहित्यिक मूल्य ही बना रहा जबकि मराठी में रगमंच के विकास के साथ नाटकों का विकास भी अपेक्षाकृत तेजी से हुआ है। हिन्दी और मराठी के दो लेखकों का या उनकी कृतियों का जब हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते है तो हमारा उद्देश्य केवल उन कृतियो का परिचय देना भर ही नही हो सकता बल्कि उन कृतियों की सामर्थ्य, उनकी मर्यादाएँ, उनकी सीमाएँ, उनकी महानताएँ आदि का अध्ययन होता है।

मोहन राकेश तथा विजय तेंडुलकर अपनी भाषा के महत्त्वपूर्ण नाटककार रहे हैं। दोनों ही समकालीन लेखक हैं तथा समकालीन समस्याओं के प्रति सजग है। दोनों लेखकों में रंगमंच की सूक्ष्म जानकारी है। दोनों ही लेखक स्वयं मध्यवर्गीय समाज के प्रतिनिधि हे तथा अपने नाटकों में मध्यवर्गीय नारी की प्रतिभा को प्रस्तुत करते है। इसीलिए उनके नाटकों में व्यक्त होने वाली नारी के चित्रण का तुलनात्मक दृष्टि से विचार होना आवश्यक लगता है।

## नारी पात्रों का महत्त्व

राकेश के तीनों नाटकों में नारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। नाटक उसी के कारण घटित होता है तथा नाटक की सभी घटनाएँ उसी के इर्द-गिर्द या उससे सबधित

हैं। उनके नारी चरित्रों को हम उनकी जीवन्त अनुभूतियों के रूप मे पाते हैं। ये नारियां पुरुष पात्रों की तरह अस्थिर और अन्तर्द्वंद्व ग्रस्त न होकर संयत, स्वाभिमानिनी, आत्मविश्वासयुक्त और अपने अस्तित्व के प्रति पूर्णतः जागरूक दिखाई देती है। मध्ययुगीन भारतीय नारी के समान ये पुरुषों के सामने दीन आत्मसमर्पण नहीं करती वरन् अपने अहं और स्वाभिमान को सुरक्षित रखते हुए उनसे अपनी भावनाओं का उत्तर चाहती हैं।

राकेश के पहले नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' मे कालिदास जैसा महान कवि प्रमुख पात्र होने पर भी केन्द्रीय पात्र मल्लिका ही है। सभी घटनाएँ उसी के आस-पास घटित होती है। भावना मे जीने वाली मल्लिका कालिदास के साथ अपने प्रेम सम्बन्ध को सब सम्बन्धों से बड़ा मानती है। इसीलिए जब उसे राजकवि का सम्मान मिलता है तो वह उसे उज्जयिनी जाने के लिए प्रेरित करती है। रेखा की तरह घिरने के बजाय या अपने प्रेम की बेडियों में उसे बांधने के बजाय वह उसे विस्तृत क्षितिज के द्वारा उन्मुक्त कर देती है। वह अभाव झेलती है किन्तु उसका आस्था भाव बना रहता है। इसीलिए वह कहती है –"मैं टूटकर अनुभव करती हूं कि तुम बने रहो, क्योंकि मैं अपने को अपने मे न देखकर तुममें देखती रही।"[1] यह निश्छल भाव उसे कालिदास के प्रति है जो बेहद आत्मकेन्द्रित है जिसने बार-बार उसे धोखा दिया है, उज्जयिनी जाते समय, कश्मीर जाते समय और अन्त में अथ से आरम्भ करने की बात छेड़कर भी उसे पूरा नही किया।

राकेश के दूसरे नाटक 'लहरों के राजहंस' में सुन्दरी का व्यक्तित्व अद्वितीय है। इस नाटक में वह रागात्मक जीवनदृष्टि के रूप में हमारे सामने आती है। योग और भोग के द्वंद्व में फंसे नंद को वह पुनः-पुनः योगमार्ग से विमुख करने का प्रयत्न करती है। वह जानती है कि नंद को बुद्ध के प्रभाव से विमुख करना सम्भव नही है किन्तु फिर भी उसके मन में कही गहरा आत्मविश्वास है। इसी विश्वास के बल पर वह नंद को बुद्ध के पास जाने की अनुमति देती है। विश्वास खंडित होने पर वह आहत तो होती है किन्तु कही भी दुर्बलता अनुभव नही करती। वह कहती है– "मैंने विश्वास से उन्हें भेजा था। चाहती, तो उस समय उन्हें रोक भी सकती थी परन्तु रोकना मैंने नही चाहा···क्योंकि रोकना दुर्बलता होती।···अब इतना तो संतोष है कि दुर्बलता कही थी तो मुझमें नही थी।"[2]

पराजित होने पर भी अपने और अपने दृष्टिकोण के प्रति इतना गहरा विश्वास सुन्दरी की निश्चित जीवन दृष्टि का ही परिणाम है। 'आधे-अधूरे' नाटक की सावित्री तो राकेश का ऐसा महत्त्वपूर्ण पात्र है, जिसके बिना नाटक ही संभव नही था।

तेंडुलकर के नाटकों में नारी की भूमिका महत्त्वपूर्ण होते हुए भी नाटक उसके कारण घटित नहीं होता। उसकी भूमिका निष्क्रिय (Passive) है। वह परिस्थिति

की दास है। खामोश रहकर सहती है या सीमित रूप में उसका विरोध करती है। तेंडुलकर का नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण है। अन्याय और अत्याचार मे पीडित नारी के प्रति उनके मन में गहरी सहानुभूति है। परिवार को बाधे रखने का महत्त्वपूर्ण सूत्र नारी ही है ऐसी उनकी धारणा है। उनके नाटको के पुरुषपात्र कई बार अपने कर्तव्य मे विमुख होते है, भावनाओ में बह जाते है, किसी आदर्श के पीछे दौडने की कोशिश करते है जबकि उनके नारी पात्र यथार्थ के ठोस धरातल पर खडे होकर विचार कर सकते है। जैसे 'मी जिकलो मी हरलो' नाटक मे माधव जब नौकरी छोडकर नाट्यकला के प्रति सम्पूर्ण समर्पित होना चाहता है तब उसकी पत्नी अनु भावना के बहकावे मे न आकर आगे आने वाली समस्याओ के प्रति आगाह करती है। वो उसे पूर्ण रूप से विरोध भी नही करती बल्कि माधव के निर्णय मे निर्माण होने वाले परिणामो को केवल सहती है।

'कमला' नाटक मे पत्रकार की पत्नी सरिता को अपने अस्तित्व का एहसास तब होता है जब उसका पति जयसिंह 'कमला' को खरीद कर लाता है। कमला की त्रासदी के माध्यम मे उस नारी की त्रासदी का एहसास होता है। कमला के विषय मे वह पति से असहमति भी प्रकट करती है, विवाद करती है परन्तु अन्त में थके-हारे जयसिंह को सहारा देने के उद्देश्य मे ही क्यो न हो वह उसके कदमों में बैठ जाती है।

## 'आधे अधूरे' तथा 'शान्तता कोर्ट चालू आहे' के विशेष संदर्भ में

प्रस्तुत निबन्ध में राकेश के 'आधे-अधूरे' तथा तेन्दुलकर के 'शानतना कोर्ट चालू आहे' का विशेष सन्दर्भ लेकर सावित्री और लीला बेणारे के माध्यम मे इन दोनों लेखकों के मध्यवर्गीय नारी के प्रति दृष्टिकोण का प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। समकालीन पृष्ठभूमि पर लिखे गये ये दोनो नाटक है। एक ही कालखण्ड मे इन दोनो लेखको ने मध्यवर्गीय नारी को किस रूप मे देखा है, इनके नाटकों के माध्यम से नारी की प्रतिभा किस प्रकार साकार हुई है, इसका अध्ययन यहा किया गया है।

'आधे अधूरे' राकेश का ही नही, सातवे दशक का एक महत्त्वपूर्ण नाटक रहा है। इसमे राकेश ने ऐतिहासिक आधार को न ग्रहण कर समकालीन जीवन की संवेदनाओं को सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया है। यह नाटक मध्यवर्गीय परिवार के साक्षात्कार का नाटक होने के साथ-साथ व्यक्ति के अधूरेपन की कहानी भी कहता है।

सावित्री एक बिखरते हुए परिवार की स्वामिनी है। उसका पति महेन्द्रनाथ निठल्ला है जो सावित्री की नजरो मे 'घरघुसरा' या नाशुक्रा ही नही बल्कि एक ऐसे 'नामुराद मोहरे' की तरह है 'जो न खुद चलता है न किसी को चलने देता

है।' वह सावित्री पर निर्भर है। उनके तीन बच्चे हैं। बडी लडकी बिन्नी, लडका अशोक और छोटी लडकी किन्नी। इस परिवार का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे से कटा हुआ है। बडी लडकी बिन्नी मा के ही प्रेमी मनोज के साथ घर से भाग कर विवाह करती है। लडका पत्रिकाओ मे रगीन तस्वीरे काटता हुआ उस मौके के इंतजार मे है जब वह भी यहा से निकल सकेगा। वह भी अपने पिता की तरह निकम्मा है। छोटी लडकी किन्नी को पिता माता बहन भाई किसी के प्रति कोई लगाव नही है। वह बेहद जिद्दी और बदमिजाज लडकी है। इन सबके लिए सावित्री खटती रहती है। इनसे दूर भागना चाहती है पर भाग नही पाती। वह सदैव यह महसूस करती है कि महेन्द्रनाथ के अलावा वह किसी अन्य पुरुष से विवाह करती तो अधिक सतुष्ट हो पाती। पूर्ण पुरुष की तलाश वह कभी जगमोहन के माध्यम से करती है, कभी जुनेजा के तो कभी सिघानिया के। इस प्रकार वह सब कुछ एक साथ पाकर या ओढकर जीना चाहती थी लेकिन अधूरी सावित्री अन्य अधूरे व्यक्तियो से टकरा-टकरा कर टूटती चली गयी और अपनी त्रासदी को झेलने के लिए विवश हो जाती है। वास्तव मे जिस मुट्ठी मे बहुत कुछ एक साथ भर लेना चाहती थी, इसमे जो था, वह भी धीरे-धीरे बाहर फिसलता गया।

विजय तेडुलकर का 'शांतता ! कोर्ट चालू आहे' यह नाटक कुछ खूखार ओछे और वहशियाना लोगो के बीच फसी कु० लीला बेणारे की त्रासदी का नाटक है जिसके लिए लेखक ने नकली अदालत का माध्यम अपनाया है। कु० बेणारे पर भ्रूण हत्या का आरोप लगाकर केस प्रारम्भ होता है। खेल खेल मे चलने वाली इस अदालत मे कु० बेणारे की बेइज्जती के साथ-साथ उस केस मे आनन्द लेने वाले लोगो की क्षुद्र नीच मनोवृत्ति का परिचय भी होता चलता है। इस नाटक के अन्य पात्रो मे काशीकर है जो इस अभिनय न्यायालय के न्यायाधीश है और बेहद पिछडे विचारो के व्यक्ति है। श्रीमती काशीकर अपने पति से प्रेम का नाटक करने वाली और अपने आश्रित रोकडे मे रस लेने वाली नारी है। श्री पोक्षे इटर फेल अपने आपको इटलेक्चुअल दिखाने वाला नर्हम वृत्ति का व्यक्ति, कर्णिक शौकिया रगमच का कलाकार, सुखात्मे एक असफल वकील और रोकडे काशीकर का आश्रित कर्तृत्वहीन, श्रीमती काशीकर की आज्ञा का पालन करने वाला और फिर भी इन लोगो की शिकायत करने वाला व्यक्ति है।

इस प्रकार सबके सब क्षुद्र, बौने, अपने स्वत्व और कर्तृत्व को खोए, अपना असली रूप छिपाने के लिए नैतिकता व सस्कृति के मुखौटे लगाये हुए लोग है। इन सबके बीच कु० बेणारे एक अकेली असहाय नारी किसी भी प्रकार क्यो न हो अपने स्वत्व की रक्षा के लिए जूझकर अपने गर्भ को पोसना चाहती है। इस केस के दौरान सब उस पर टूट पडते है। कु० बेणारे इस आक्रमण से असहाय हो गयी है।

उससे सहानुभूति है तो केवल उस निर्बल सामत को जो उसकी जिंदगी में कोई परिवर्तन नही ला सकता।

ऊपरी सतह से देखने पर इन दो नाटको मे समानता नही हे। 'शातता! कोर्ट चालू आहे' समाज की मानसिकता पर आधारित है, जबकि 'आधे अधूरे' सावित्री के अनरमन का द्वद्व है। दोनो नाटको की नायिकाओ के नामो मे सिग्निफिकन्ट (Significant) फर्क है। लीला बेणारे सामान्य मध्यवर्गीय महाराष्ट्रीयन नाम है तो सावित्री नाम एक विशिष्ट सास्कृतिक सदर्भ की याद दिलाता है। सत्यवान वाली सावित्री ने साक्षात यम के हाथो अपने पति की जिदगी मागी थी तो आज की सावित्री एक जन्म भी एक पति के साथ निर्वाह नही कर सकती।

## सक्रमणकालीन नारी का चित्रण

इन दोनो की विवेचना (प्रेडिकामैंट) देखकर ऐसा महसूस होता हे कि ये दोनो भी नारियां सक्रमण काल से गुजर रही हे। इनकी त्रासदी इस सक्रमणकाल के दौर से जुड़ी हे। इस काल की मध्यवर्गीय नारी ने शिक्षा पायी। नौकरी के लिए घर से बाहर निकली। उसे आर्थिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त हुई। वह पुरुष पर आश्रित नही रही। सावित्री पर तो उसका पूरा परिवार आश्रित है। कु० लीला बेणारे भी स्वय अध्यापिका हे। पूरे नाटक मे उसके परिवार का कोई सदर्भ नही। वह परिवार से अलग स्वतन्त्र रहती हे। वह इतना भर कमा लेती है कि न केवल अपने बच्चे को पाल पोस सकेगी बल्कि रोकड़े या पाळशे भी यदि उसके बच्चे को पिता का नाम और प्रतिष्ठा दे सके तो वह उन्हे भी पाल पोस सकती है। परन्तु इनके नकारने पर उसमे अपने बच्चे को जन्म देने की हिम्मत नही है। इसका मतलब यह हुआ कि नारी केवल आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने पर सारी समस्याएँ नही समाप्त हो जातीं बल्कि जो समस्याएँ शेष रह जाती है उनके उत्तर हमे सक्रमण-काल के बदलते मूल्यो मे खोजने पडते हे। आर्थिक स्वतत्रता ने नारी को चुनाव की स्वतत्रता कुछ हद तक दी हे परतु चुनाव की क्षमता नही दी। इसीलिए सावित्री आर्थिक रूप से स्वतत्र होने पर भी अत तक पुरुष 1, 2, 3 या 4 मे चुनाव नही कर पायी। चुनाव न कर पाने की यातना को भुगतना ही उसकी त्रासदी है।

आज परिवार का ढाचा ही कुछ बदल-सा गया है। इसमे नारी की भूमिका भी अब केवल बच्चो की देखभाल या घर के कामो तक ही सीमित नही रही। बाहर की दुनिया मे उसे एक अतिरिक्त भूमिका का निर्वाह करना पडता है। घर की जिम्मेदारियो को सभालते हुए वह इस अतिरिक्त भूमिका को निभाने की कोशिश कर रही है। परिवार के भरण-पोषण के लिए पति कमाकर लाया करता था पर 'आधे-अधूरे' का महेन्द्रनाथ निठल्ला है। जहा पिता काम-धाम नही करता

वहां ये जिम्मेदारी लड़का सम्भाल लेता है परन्तु लड़का भी निकम्मा है और काम करने का उसका कोई इरादा भी नहीं है। लड़की से ये अपेक्षा रहती है कि वो माता-पिता के तय किये हुए पुरुष के गले में माला डालकर उसे अपना पति समझे, पर बिन्नी मनोज के साथ घर से भाग जाती है। छोटे बच्चों को परिवार के बड़े सदस्यों का आदर करना चाहिए परन्तु किन्नी मां-बाप भाई-बहन किसी का आदर नहीं करती। ऐसी स्थिति में सावित्री भी सावित्री बनकर नहीं जी सकती। सावित्री अन्य पुरुषों में पूर्ण पुरुष खोजने का प्रयत्न करती रहती है जो अपने पारम्परिक मूल्यों से असंगत लगता है। राकेश ने जिस काल में यह नाटक लिखा उस काल में तो ये बात बहुत ही साहस की रही होगी। सावित्री अपने मनचाहे सम्पूर्ण पुरुष की तलाश में एक के बाद एक पुरुष के पास जाती है। एक मध्य-वर्गीय परिवार में पूरा इंसान मिल सकता है या नहीं ये बात अलग है पर सावित्री की ये तलाश उसके द्वन्द्व और उसके आवेग को प्रकट करती है। वैसे तो पूर्ण पुरुष की तलाश शाश्वत तलाश है। हम सभी अपूर्ण है। परन्तु हम अपनी अपूर्णता दूसरे में पाकर सन्तुष्ट होते हैं। यहां दोनों अपने में आधे-से हैं, अधूरे हैं पर दूसरा उस अधूरेपन को कम नहीं करता, बल्कि उसके एहसास को और भी तीव्र कर देता है। साथ रहना ही इनकी नियति है। महेन्द्रनाथ भी हर मंगल शनीचर की भांति लौट आता है। सावित्री भी जगमोहन के साथ घर छोड़ने के प्रयास में असफल होकर वहीं लौटती है। सावित्री आर्थिक दृष्टि से परिपूर्ण होने पर भी चुनाव क्यों नहीं कर पाती? अन्य पुरुषों के आने पर अपने परिवार के सामने हर बार ये जस्टीफिकेशन क्यों देती है कि मैंने सिंघानिया को अशोक की नौकरी के बारे में बात करने को बुलाया था या जगमोहन या जुनेजा से दोस्ती बढ़ाई है तो परिवार की भलाई के लिए ही बढ़ाई है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार हर बार सावित्री को जस्टीफिकेशन देने की जरूरत क्यों महसूस होती है? वह चाहती तो कह सकती थी कि हां, मुझे 'क्ष' पुरुष अच्छा लगता है, वह मेरा मित्र है। परन्तु वह ऐसा क्यों नहीं कर पाती? इस बिखरते हुए परिवार को छोड़ पाने का ढाढ़स क्यों नहीं जुटा पाती? इसका कारण उसके सस्कारों में पुराने मूल्यों के प्रभाव में ढूंढा जा सकता है। न तो वह सती सावित्री बन सकती है और नहीं किसी भी पुरुष के गले में हाथ डालकर अपने परिवार को छोड़कर जा सकती है। नये मूल्यों के प्रति अनिश्चितता और पुराने मूल्यों को अस्वीकारने की छट-पटाहट उसके व्यक्तित्व से स्पष्ट होती है। मां और पत्नी होने के साथ परिवार की सम्पूर्ण स्वामिनी होने का अभिमान भी उसे है। टूटते हुए परिवार को किसी तरह संवारने का आनन्द भी उसे है। जहां स्त्री को निर्णय प्रक्रिया में कभी शामिल नहीं किया जाता था वहां आज ये नारी परिवार के सारे निर्णय स्वयं लेती है इसका गुरूर भी उसे है। मां और पत्नी की भूमिका में से वह अभी मानसिक रूप

से मुक्त नही हो पायी है। इसीलिए अशोक के उदासीनता दिखाने पर भी वह अशोक की नौकरी के लिए प्रयत्न करती रहती है। इस उधेडबुन मे न तो वह परिवार को छोडकर जा पाती है न ही उससे पूरी तरह बध पाती है। मूल्यो का जो सघर्ष आज की नारी मे है वही उसकी त्रासदी का कारण है।

इसी परिप्रेक्ष्य मे जब हम कु० लीला बेणारे के चरित्र को देखते है तो हमे यही बात यहा भी दिखाई देती है। बेणारे को भी पारम्परिक मूल्यो के प्रति लगाव है। केवल लगाव ही नही तो वो उनका जतन भी करना चाहती है। वह कहती है—'हे विग पी पचविज' पण त्याचा ओझरता भासही नाही त्याना लागू दिला, मी त्याना सौन्दर्य शिकवल, पावित्र्य शिकवल, आतून रडत मी त्याना हसवल।'[3]

इसका मतलब साफ है। बेणारे इस ससार मे कहती है कि तुम्हारे ही मूल्यो को आनेवाली पीढी तक पहुचाने का कार्य मैने किया है। फिर मुझ पर ही ये आक्रमण क्यो? बेणारे का इस मूल्य व्यवस्था पर पूर्ण विश्वास है। परन्तु एक बात है और वह ये है कि बेणारे का कहना है कि उसकी जिन्दगी के निर्णय लेने का अधिकार सिर्फ उसी को है तो वो केवल उसी को है। वह कहती है- 'माझे आयुष्य हे माझ आहे, नोकरीसाठी विकलेले नाही मी ते कुणाला माझी मर्जी ही माझी आहे, माझी इच्छा माझीच आहे, ती कुणी नहि मारु शकरणार कुणी नाही, माझ, माझ्या आयुष्याच मी काय हव ते करीन।'[4]

ये आज के जीवन का नया मूल्य है। आज आर्थिक स्वतन्त्रता ने नारी के मन मे व्यक्तिस्वातत्र्य की कल्पना को भी जन्म दिया है। अपनी जिन्दगी का एक-एक क्षण महत्वपूर्ण है और अपने लिए बिताना ही जिन्दगी है ऐसा उसका मत है।

'आयुष्य कुणासाठी नसत, ते स्वत साठी असत, अमल पाहिजे, ते फार-फार महत्वाच आहे, त्याचा प्रत्येक क्षण, प्रत्येक कण मोलाचा आहे।'[5]

जिन्दगी के सम्बन्ध मे इस प्रकार का विचार रखनेवाली बेणारे सामाजिक और व्यक्तिगत जिन्दगी की कही सीमा रेखा नही निश्चित कर पा रही है। हर प्रकार से स्वतन्त्र बेणारे अपने बच्चे को पिता का नाम और सामाजिक प्रतिष्ठा देने हेतु रोकडे और पोक्षे जैसे क्षुद्र व्यक्ति से भी विवाह करने को तैयार होती है। अपनी गर्भावस्था के सन्दर्भ मे प्रामाणिकता से उन्हे बतला देती है। यहा भी मूल्यो का सघर्ष ही उसके व्यक्तित्व का दो टुकडो मे बाटना है। पुरानी व्यवस्था न तो वह नकार पाती है और न ही नयी व्यवस्था को स्वीकारने की हिम्मत जुटा पाती है।

सामान्यत: नारी ने अपने परिवार में समाधान ढूढना चाहिए ऐसी अपेक्षा की जाती है परन्तु बेणारे आधुनिक काल की एक नारी है, वह अपने काम मे समाधान ढूढती है। वह परिवार के साथ नही रहती। अपने काम के प्रति प्रामाणिक रहना उसकी दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अपने विद्यार्थियो को पढाने मे उसे आनद

आता है। उनके प्रति उसे विश्वास भी है।

'माझी मुल माझ्यासाठी काहीही करतील'[6]... अपने पेशे के साथ उसकी गहरी निष्ठा है। कामकाजी नारी के जीवन मे अपने काम के माध्यम मे जीवन का आनद तलाशना आधुनिक काल का मूल्य है। एक ओर कु० बेणारे इन नये मूल्यों को स्वीकारती है परन्तु पुराने मूल्यो मे वह पूर्णत: अपने आपको मुक्त नही कर पाती। एक ओर वह शारीरिक सुख को भी महत्व देती है, उसे नकार नही पाती तो दूसरी ओर उस क्षण के साक्षी को जन्म देना भी आवश्यक समझती है। इतना ही नही, उसके लिए पिता के नाम की आवश्यकता पर भी जोर देती है। मूल्यो का यही द्वद्व उसके चरित्र के माध्यम से साकार होता है।

कु० बेणारे को अध्यापिका के रूप मे प्रस्तुत करना लेखक के मन के मूल्यों के प्रतिद्वद्व को ही स्पष्ट करता है। हमारे पास अध्यापिका की कल्पना सस्कार करनेवाली नारी के रूप मे ही है। लेखक कु० बेणारे को किसी अन्य क्षेत्र मे काम करनेवाली नारी के रूप मे प्रस्तुत करता तो शायद उसके आचरण की इतनी चर्चा न हुई होती। बेणारे को अध्यापिका के रूप मे चित्रित करनेवाले लेखक के मन मे भी मूल्यों के प्रति द्वद्व है।

मूल्यों के द्वद्व मे फसे किसी भी व्यक्ति की त्रासदी अपरिहार्य है। इसलिए शातता कोर्ट नाटक के अन्त मे शिरीष पै की कविता का उदाहरण उचित लगता है।

'अशी एखादी तढ़ाई असते जिथा शेवट
असतो एका पराभव,
वाया जाण्यासाठीच घ्यायचे असतात
असे काही अनुभव'...[7]

'आधे-अधूरे' की सावित्री या शातता! कोर्ट चालू आहे की लीला बेणारे की त्रासदी को जिस रूप मे इन दोनो लेखको ने प्रस्तुत किया है उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि तमाम असन्तोष के बावजूद विवाहसस्था तथा परिवार की सकल्पना का फिलहाल कोई विकल्प हमारे पास नही है। यदि है भी तो वह विचारो की सीमा तक ही है। उस पर अमल नही कर सकते। इसका कारण यह है कि मूल्यों के सघर्ष से हम अभी मुक्त नही हो पाए है। आज की नारी को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। 'करिअर' करने की उसमे प्रबल महत्त्वकाक्षा जागृत हुई है, वह व्यक्तिवादी हो गयी है इतना होने पर भी परिवार की जिम्मेदारिया आज भी उसे इसी रूप मे निभानी पडती है, नैतिकता की रूढ़ कल्पनाओं को झकझोरने की हिम्मत उसमे नही है, परिणामत उसका अन्तर्द्वद्व बढता जा रहा है। इन दो लेखकों ने इस बात को सूक्ष्मता से चित्रित किया है। इनके नाटको के अनेक पहलुओं पर हम विचार कर सकते है, परन्तु यह एक महत्वपूर्ण आयाम है जिस पर

संक्षेप मे विचार करने का प्रयत्न मैंने यहां किया है।

# हिन्दी-मराठी तुलनात्मक अध्ययन शोध सर्वेक्षण

डॉ० कमलाकर गंगावणे

विद्वानों की मान्यता है कि हिन्दी और मराठी ये दोनों भाषाए आर्य परिवार से सम्बन्धित हैं। इन दोनों भाषाओं का मूल स्रोत संस्कृत भाषा है। अतएव ये दोनों भाषाएं भगिनियो के रूप मे मानी जाती हैं। फलस्वरूप दोनों भाषाओं में मूलभूत एकता है। दोनों भाषाओ की लिपि देवनागरी है। शब्द सम्पदा एवं शब्द रूप, वाक्य रचना, अर्थपरकता, ध्वनि संयोजन आदि के सन्दर्भ में दोनों में पर्याप्त मात्रा में समानता हे। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन दोनों भाषाओं में भेद नहीं है। प्रायः इनमे कुछ हद तक भेद है। भेद होते हुए भी "दोनों का संस्कृत भाषा के साथ पारम्परिक एवं ऐतिहासिक सम्बन्ध है। ऐसा होने पर भी यदि स्वतन्त्र रूप से हिन्दी-संस्कृत या मराठी-संस्कृत का आपस में सम्बन्ध देखें, तो उन सम्बन्धों की तुलना में हिन्दी-मराठी का सम्बन्ध अधिक निकट का मिलेगा।"[1]

इस सन्दर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा का मन्तव्य बड़ा मार्मिक एवं सटीक है। उन्होंने लिखा है --

'सस्कृत परिवार की भाषाओं में शब्द-भण्डार और व्याकरण की ऐसी अनेक समानताएं हैं, जो स्वयं संस्कृत में नहीं है। ये समानताएं या तो संस्कृत की समकक्ष जनपदीय बोलियों में थीं या किसी अन्य भाषा परिवार में थी, जिनसे जनपदीय बोलियों का मिश्रण हुआ। इस बात की आवश्यकता है कि भारतीय भाषाओं की सस्कृततेतर समानता का भी अध्ययन किया जाए।"[2] अतः इन दोनो भाषाओं का तथा उनके साहित्य का विकास एक साथ होता रहा है। फलस्वरूप इधर इन दिनों दोनों भाषाओं का भाषिक और साहित्यिक स्तर पर तुलनात्मक अध्ययन हुआ है तथा हो रहा है।

भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी-मराठी का भाषिक तथा

साहित्यिक स्तर पर तुलनात्मक अध्ययन हो रहा है। अब तक की जो सामग्री इस सन्दर्भ में उपलब्ध हुई है, उन सबका सर्वेक्षण इस लेख मे कालक्रम से तथा तालिकाबद्ध रूप मे करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

यहा पहले ही स्पष्ट करना उचित होगा कि भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयो मे हिन्दी-मराठी का भाषिक तथा साहित्यिक स्तर पर शोध-प्रबन्ध के क्षेत्र म जो तुलनात्मक अध्ययन हुआ है उसका विवरण 'शोधसन्दर्भ' मे सकलित किया गया है। परन्तु यह विवरण विशृंखल रूप मे है।[3] इस ग्रथ के आधार पर हिन्दी-मराठी तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित स्वीकृत शोध प्रबन्धो का एक जगह तालिकाबद्ध विवरण दिया गया है। अत उक्त ही प्रस्तुत लेख का मूलाधार है। इसके अतिरिक्त 'अप्रतिबद्ध',[4] 'भारतीय हिन्दी परिषद स्मारिका',[5] 'शोध विविधा',[6] तथा 'शोध और समीक्षा'[7] आदि पत्रिकाओ एव ग्रन्थो की सहायता ली गयी है।

मध्ययुग म भारतीय साहित्य मे भक्ति साहित्य की अविरल धारा बहती हुई दिखलाई देती है। जहा तक हिन्दी-मराठी का प्रश्न है, इन दोनो ही भाषाओ मे पर्याप्त मात्रा में भक्ति साहित्य उपलब्ध है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, समर्थ रामदास आदि अनेक सन्त हुए हैं उन्होंने मराठी के साथ-साथ हिन्दी मे भी रचनाए लिखी है। इन सन्तो ने अपनी रचनाओ मे हिन्दी का जो रूप अपनाया है, वह सम्भवत जनजीवन मे व्याप्त बोली का ही रूप है। इन सन्तो द्वारा अपनाई गई बोली में तत्कालीन जनजीवन का चित्र प्रतिबिम्बित हुआ है। दूसरी बात यह भी है कि मराठी साहित्य की प्रवृत्तिया की झाकी इन सन्तो की हिन्दी रचनाओ में देखी जा सकती है।

हिन्दी मराठी सन्त साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन सन् 1956 मे शुरू हुआ। आचार्य विनयमोहन शर्मा इस क्षेत्र मे सबसे पहले शोधकार्य करने वाले शोधकर्ता माने जाते है।[8] इसके बाद तो सन्त साहित्य, वैष्णव साहित्य, महानुभाव साहित्य, वारकरी सम्प्रदाय आदि विषयो पर शोधकार्य का सिलसिला जारी रहा है। सन्त साहित्य तथा भक्ति साहित्य को आधार मानकर किये गये शोधकार्य म निर्गुण साहित्य पर पर्याप्त कार्य हुआ है। इसमे शोधकर्त्ताओ ने एक ओर साहित्यिक प्रवृत्तियों को आधार बनाकर तुलना की है, तो दूसरी ओर स्वतन्त्र रूप मे दो कवियो की तुलना की है। अत. शोध-प्रबन्धो को 'मध्ययुगीन भक्ति साहित्य' शीर्षक के अन्तर्गत रखकर क्रमशः विवरण निम्न प्रकार से दिया जा रहा है—

द्वितीय खण्ड

# हिन्दी एवं अन्य भाषाए

# हिंदी-गुजराती : भक्ति साहित्य

डॉ० ललित पारिख

भक्ति आंदोलन का समय और प्रभाव सर्वत्र प्राय: एक-सा रहा। हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाओ मे अपने ढग के विशिष्ट लोकप्रिय संत हुए जिन्होने भक्ति साहित्य का सृजन कर अपने भक्त रूप और व्यक्तित्व का परिचय तो दिया ही, साथ ही साहित्य के मूलभूत तत्व सत्य, शिव, सुंदरम् का पूर्णरूपेण निर्वाह कर लोकमंगल की अपनी सहज भावना को शब्द रूप देकर 'स्वान्तः सुखाय' के साथ-साथ 'बहुजन हिताय' के प्रेरक तत्वो का भी साहित्य सृजन की प्रक्रिया में स्वाभाविक ढग से कार्य करने दिया।

प्रवृत्तियो की दृष्टि से दोनो भाषाओं के भक्ति साहित्य मे साम्य पाते हुए भी वैषम्य के तत्व भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होते है। हिन्दी साहित्य का भक्ति काल जहा ज्ञानाश्रयी शाखा के संत कवियो से आरंभ होता है, वहा गुजराती साहित्य का भक्ति काल, यदि वैसा नाम देना चाहें तो, कृष्ण भक्ति और पौराणिक आख्यान-साहित्य की परम्परा से प्रारंभ होता है। वास्तव मे भक्तिकाल और उसकी सगुण-निर्गुण धारा और उनके अंतर्गत पाई जाने वाली ज्ञानाश्रयी, कृष्णमार्गी, राममार्गी शाखा आदि प्रवृत्तिया जो हिन्दी साहित्य के इतिहास मे पाई जाती है, गुजराती साहित्य मे उस रूप मे बिल्कुल नही पाई जाती। न उस प्रकार का विभाजन है, न उस प्रकार का वर्गीकरण है और न ही उस प्रकार की क्रमिक प्रवृत्तिया। गुजराती साहित्य के इतिहास मे भक्ति साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करने का कार्य 'गागरिया भट्टो' ने किया, जो कवि कम और आख्यानकार अधिक होते थे, किन्तु रात-रात भर भक्ति-संबंधी आख्यान सुना-सुना कर भक्ति साहित्य के लिए सानुकूल परिस्थितिया उत्पन्न करने में उनका योगदान काफी महत्वपूर्ण रहा। 'गागरिया भट्ट' को 'माण भट्ट' भी कहते थे, जो अपने सामने गागर (माण) रख कर उंगलियो से उसे बजाते हुए, गा-गाकर, संगीतात्मक शैली में भक्ति संबंधी आख्यान सुना कर बड़े-बड़े श्रोता वृंदो को प्रभावित करने मे शत-प्रतिशत सफलता पाते रहते थे। बीच-बीच में अंतर्कथाएं सुनाना, हास्य-व्यंग्य का

पुट देना और पद्य गद्य की अस्खलित धाराप्रवाह वक्तृता उनकी विशेषता हुआ करती थी। आगन मे, चौराहो पर, घरो की खुली खिडकियो से श्रोता उन्हे सुनते थे— बडे प्रेम से, बडे आदर से और सबसे बढ कर बडे चाव से, रसपूर्वक। लगभग 500 वर्षो तक गागरिया भट्टो की परपरा चलती रही। पद्रहवी शताब्दी को इस प्रवृत्ति का प्रारभ काल मानते है और कवि भालण को आख्यान परपरा का पिता माना जाता है।

वैसे कटे-बधे रूप मे एक ही प्रकार की प्रवृत्ति किसी भी भाषा के साहित्य मे न चली है, न चल सकती है। सन् 1416 ई० मे नरसिहारण्य मुनि ने 'विष्णु भक्ति चद्रोदय' नामक भक्ति-सबधी रचना भालण से पूर्व की थी, जिसका कुछ अश गिरनार पर्वत पर उल्लिखित है। इसम दामोदर कृष्ण की स्तुति मे प्रारभ किया गया है। 1417 मे यह उत्कीर्ण किया गया था। यहा यह बता देना भी उपयुक्त होगा कि लोकगीतो की परपरा मे तो राधाकृष्ण आदि के प्रसग अलिखित साहित्य के रूप म काफी पहले मे ही पाये जाते थे और लोकप्रिय भी थे। यहा यह भी स्पष्ट कर देना ठीक होगा कि गुजरात मे रामभक्ति की अपेक्षा कृष्णभक्ति सबधी साहित्य की प्रवृत्ति ही अधिक प्रबल रही। आज का आधुनिक कवि भी राधाकृष्ण का प्रेम-गीत अब भी कभी-कभी लिखता है।

गुजराती मे राम काव्य नाम मात्र का पाया जाता है और गुजराती मे तुलसी-दासजी जैसे कवि की तो कल्पना भी नही की जा सकती है। भालण नाम के प्रथम आख्यानकार कवि न तथा उनके दो पुत्रो उद्धव और विष्णुदास ने रामायण के कुछ अशो को काव्यबद्ध किया है। भालण का 'राम विरह' और 'राम बालचरित' प्रसिद्ध रचनाए है। 'हर सवाद' म 'शिवपुराण' मे भीलनी रूप धारण करने वाली पार्वती और गगा की कथा काव्यबद्ध की गई है। 'मृगाख्यान' मे शिवजी की कथा है। हिन्दी मे इस प्रकार से स्वतत्र शिव कथाए तुलसी के 'जानकी मगल' काव्य को छोड कर नही पाई जाती। कृष्णभक्ति सबधी भालण का साहित्य काफी विपुल है जैसे 'रुकमणि विरह', 'सत्यभामा विरह', 'कृष्ण विष्टि', 'कृष्ण बालचरित', 'दशम् स्कध' आदि। भालण ने 'गरबी' शैली मे अपना कृष्ण साहित्य लिखा जो गरबा नृत्य करते-करते, रास खेलते-खेलते गाया जा सके। आगे चल कर हिन्दी के कवि नन्ददास के समकक्ष दयाराम ने भी गरबी शैली मे बडा मधुर कृष्ण साहित्य लिखा. भालण मे समन्वयवादी और सामजस्यकारी प्रवृत्ति प्रबल रूप मे पाई जाती है, जो हम उनकी शिवजी सबधी, राम सबधी और कृष्ण सबधी रचनाओ मे स्पष्ट देख सकते है। इतना ही नही, एक कृष्ण गीत मे जो प्रारभ होता है 'मीठडा मावजी रे। मारे मदिरे आवो' जैसे मधुराभक्ति शब्दो से, किन्तु अन्त मे कवि दार्शनिक सस्पर्श देते हुए भगवान् रामचन्द्र जी को याद करते हुए कहते है —"ते कीधो त्यम कोय दे नही, प्रीत करीने चेहरे, भालण प्रभु रघुनाथ संभारो,

एक घड़ीनो मेहं।" भालण की दार्शनिक दृष्टि भी बड़ी सुलझी हुई थी। एक पद में वे कहते है--"हु हरिनो, हरि छै मम रक्षक एह भरोसो जाय नहीं, जे दृष्टि करश तं मम हितनु एह निश्चय बदलाय नही।"

हिन्दी के कबीर की तुलना मे ठहर सकें ऐसे कवि अक्षयदास जो अरवा के नाम से अधिक प्रसिद्ध एव लोकप्रिय है, वे तो बाद में आते हैं। उनमे पहले आते हैं सूर के समकक्ष कवि नरसिंह मेहता जो अपनी कृष्णभक्ति, प्रेमभावना, दार्शनिकता आदि के कारण गुजराती के सबमे महान् एव सर्वप्रिय कवि हुए है। ये सूरदास से पहले हुए है और सूर जैसा सर्वोत्कृष्ट वात्सल्य वर्णन तो नही कर सके है किन्तु तब भी उनका वात्सल्य वर्णन अपने ढग का विशिष्ट एव विरल है। शृंगार रस के क्षेत्र मे तो नरसिंह मेहता ने 'सुरत सग्राम' जैसी मौलिक रचना देकर अपने कवि रूप का विशेष परिचय दिया। राधा और कृष्ण के प्रेम सग्राम की कल्पना और गोपियों तथा ग्वालो के सैन्य मे सुसज्ज होकर कटाक्ष-बाण आदि मे युद्ध करने के वर्णन द्वारा सुरत सग्राम की प्रस्तुति कही-कही उनकी उद्दाम शृंगार भावना को भी अभिव्यक्त करती है। अन्त मे राधा को विजयी दिखलाया है। सूरदास ने न तो ऐसी कल्पना ही की है और न ही कही उनका शृंगार-वर्णन इतना उद्दाम हुआ है। नरसिंह ऐसा कर सके क्योंकि वे दास्यभाव तक ही अपनी भक्ति को सीमित नही रखते थे, वे तो सखी भाव मे भक्ति करने वाले थे। वे स्वय उस 'सुरत सग्राम' मे राधा की सखी के रूप मे और कृष्ण की सखी के रूप मे विशिष्ट कार का रूप धारण करते है। सन् 1414 ई० में नरसिंह का जन्म माना गया है। नरसिंह मेहता ने जीवन मे समय-समय पर भगवान् कृष्ण से जो सहायताएं पाई वे सचमुच चमत्कार की बात है। ससार मे शायद ही कोई ऐसा कवि हुआ हो जिसके इस प्रकार के चमत्कारपूर्ण जीवन पर ही बाद के कवियो ने खण्ड काव्य लिखे हों, नाटक लिखे हो, गीत लिखे हो।

वात्सल्य रस के क्षेत्र मे सूर की तुलना में नरसिंह मेहता तो क्या, ससार का कोई कवि, व्यास तक नहीं ठहर सकते। सूर ने और कुछ न लिखा होता और केवल वात्सल्य के पद लिखे होते तब भी वे इतने ही महान् कवि माने जाते। नरसिंह मेहता के वात्सल्य संबधी पदो मे कही-कही विशेषत उनके कुछ वात्सल्यपूर्ण प्रभातियो में एक प्रकार की विशिष्ट सरसता पाई जाती है। नरसिंह मेहता के प्रभाती क्या दार्शनिक, क्या वात्सल्यपरक और क्या शृंगारिक--- आज भी प्रभात के समय गुजरात में गाये जाते है। प्रभाती नरसिंह की विशिष्ट प्रतिभा के प्रतीक और लोकप्रियता के प्रमाण है। वात्सल्य प्रसंग के अंतर्गत उनका 'नागदमन' प्रसग भी गुजराती भक्ति साहित्य में अति सुन्दर, मार्मिक एव सर्वप्रिय है। आज भी उनका पद 'जल कमल दल छोड बाला, स्वामी अमारो जागशे, जागशे तने मारशे, मने बालहत्या लागशे ?" गुजरात मे घर-घर मे गाया जाता है। नागपत्नियो और

कृष्ण के बीच का यह संवाद वस्तुत. बड़ा रसपूर्ण है। कृष्ण को जगाने के लिए यशोदा का गाया हुआ प्रभाती—'जागने यादवा, कृष्ण गोवालिया, तुज बिना धेनुमो कोण जाशे" आज भी गुजराती घरो मे प्रभात के समय खूब गाया जाता है।

शृंगार के क्षेत्र मे नरसिंह की मौलिकता—विशेषत 'सुरत संग्राम' काव्य के विषयवस्तु की कल्पना मे अपनी निजी है। सूर ने भी अनेक मौलिक उद-भावनाए अपने पदो मे प्रस्तुत की है। किन्तु इस प्रकार की नही। सयोग वर्णन नरसिंह का अति उद्दाम है क्योंकि वे सखी भाव से वर्णन करते है। वस्तुत किवदन्ती तो यह है कि नरसिंह ने शिवजी की कृपा से शिवजी के साथ जाकर रासलीला देखी थी, देखते-देखते जलती मशाल के साथ अपना हाथ भी जला लिया था। इसीलिए देखा-अनुभव किया वर्णन करने मे नरसिंह का उत्साह अनोखा है। सूर के समान वे भी प्रारम्भ मे शिवभक्त थे। शिवजी को जो प्रिय हो वह पाने के प्रयास मे उन्होंने कृष्ण भक्ति पाई और रासलीला देखी। सूर के समान वे भी समन्वयवादी है अतः नरसिंह ने भी राम प्रसंग का छुआ है। सूर का विरह-वर्णन अद्वितीय है उससे सम्बन्ध मे इनकी तुलना नही हो सकते, किन्तु नरसिंह ने भी विरह-वर्णन मे तीव्र वेदना को मार्मिक ढंग से मुखरित किया है। नरसिंह मेहता जिस क्षेत्र मे सूर से निश्चित रूप से दो कदम आगे और दो हाथ ऊचे दिखाई देते है वह क्षेत्र है दार्शनिकता का। नरसिंह मेहता की विनय-भावना शरण मात्र की ही नही सखी भाव की होने से वे कृष्ण से गूढ़ जुड़ते रहते है अपने विनय के पदो मे। दार्शनिक पद तो उन्हे वेदान्ती, परम ज्ञानी, आत्मस्थ (Realises Soul) सिद्ध करते है। सूर ने इतनी मात्रा मे और इतनी सूक्ष्मता से ऐसे पद नही लिखे है। उनकी वैष्णव जन की परिभाषा देखिए जहा वे मानवता के धरातल पर वैष्णवत्व का निश्चय होने देते है जब वे कहते है

> 'वैष्णव जन तो तेने रे कहिए
> जे पीड पराई जाणे रे।"

इसीलिए तो महात्मा गाधी जी ने इसे राष्ट्रीय भजन का रूप दिया।

कबीर के समान वे भक्ति और धर्म के नाम पर चलने वाली अधर्मता के विरोधी थे। बिल्कुल कबीर की तरह ही वे कहते है –

> "शुथयु स्नान सेवा न पूजा थकी। शुथयु घरे रही दान दीध।
> शुथयु षटदर्शन थको। शुथयु वरण ना भेद आणे।
> ऐ छे परपच सहु पेट भरवा तणा आतमाराम परिब्रह्मन जोया।
> भणे नरसैयो तत्वदर्शन विना रत्नचितामणि जन्म सोयो।"

कही वे कहते है –"पक्षापक्षी त्या नही परमेश्वर समदृष्टि ने सर्व समान"

एक पद मे वे कहते है।

"जीव ईश्वर अने ब्रह्म ना भेदमा सत्य वस्तु नही सद्य जडशे
हु अने तुपणु तजीश नरसैया तो, गुरु तने हर्ष थी पार पाडशे।"

उनका यह पद-- "जागीने जोऊ तो जगत दीसे नही
ब्रह्म लटका करे ब्रह्म सामे।"

बडा ही प्रसिद्ध दार्शनिक पद है। ब्रह्म और जीव के भेद कैसे है यह समझाने के लिए वे स्वर्णालिकार और भीतर के स्वर्ण का उदाहरण देते हुए कहते है -

"अन्त तो हेमनु हेम होये।" सगुण भक्त होते हुए भी वे निर्गुणवादी की तरह से कहते है

"नेत्रविण निरखवो, रूप विण परखवो, वण जिव्हाए रस सरस पीवो
सकळ अविनाशी ए नवज जाये कळयो, अरध उरध नी माहे महाले,
नरसैया"चो स्वामी सकळ व्यापी रह्यो, प्रेमना ततमा सत आले"

नरसिह मेहता मराठी विभक्ति "चा, चो" आदि का प्रयोग प्राय सभी पदो मे अपने गुरु के स्मरणार्थ करते रहते हे। नरसिह भाग्यवादी हे जब वे कहते है -

"जेहना भाग्य मे जे समे जे लख्यु
तेहने ते समे तेज मळशे"

वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ जी ने ब्रज के बाद गुजरात मे ही सर्वाधिक अनुयायी पाये थे। कवि गोपालदास ने तो वल्लभाख्यान ही लिखा था। भक्ति सगीत और रासनृत्य ने गुजरात को मदोन्मत्त कर दिया था। स्वामी नारायण सप्रदाय के सस्थापक स्वामी सहजानन्द और उनके शिष्यो ने भी कृष्ण भक्ति, कृष्ण प्रेम, कृष्ण लीला, आदि के अनेकानेक पद लिखे हे।

नन्ददास के साथ तुलना की जाय ऐसे गुजराती कवि हुए है दयाराम, जिनका जन्म सन् 1767 ई० म हुआ था। दयाराम अति रसिक कवि थे। दयाराम ने रासपचाध्यायी, ओखा हरण, दाणलीला, अजामिलाख्यान, गरबी सग्रह आदि। दयाराम ने हिन्दी मे 'रसिक वल्लभ' और 'सतसैया' की भी रचना की है। दयाराम विशेष लोकप्रिय हुए अपनी गरबियो के कारण। वासुरी को लेकर लिखी गई उनकी गरबी कडी प्रसिद्ध है।

"मानीती तु छे मोहन तणी हो वासलडी रे।
तुने वालम करे छे घण वहाल रे हो वासलडी।
पतिव्रताना पण मुकाय। हो वासलडी।
ने तो छोडाविया सतीओना सत्य रे हो वासलडी।
जोतो तु काष्ठ केरी कटकडो हो वासलडी।
तुने आज मळी छे ठकरात रे हो वासलडी।
चोरनी सगे शीखी चोरवा हो वासलडी।
वहाले माखण पोयु ने ते तो मंन रे हो वासलडी।"

उनकी रसिकता इस प्रसिद्ध पद में देखिए—

हुं शुं जाणुं जे वहाले मुजमां शु दीठुं
वारे वारे सामुं भाळे, मुख लागे मीठुं, हुं शुं जाणुं
मने एकलडी देखी त्यां मारे पालवे लागे,
रंक भई कांइकांइ मारी पासे मागे, हुं शुं जाणु

मीराबाई जितनी हिन्दी जगत में प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हैं उतनी ही गुजरात में। उनका "बोलमा बोलमा बोलमा रे, राधाकृष्ण विना बीजुं बोलमा रे।' और 'गोविंदो प्राण अमारो रे मने जग लाग्यो खारो रे।' आदि गीत बड़े चाव से आज भी गुजरात में गाये जाते हैं। मीराबाई के अतिरिक्त गंगा सती नाम की कवयित्री भी बडी प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हुई। फुटकल भक्त कवि तो वैसे कई एक पाये जाते हैं, जैसे (सीताहरण) के रचयिता मन्त्री कर्मण दशम स्कंध के रचयिता केशव 'हरि-लीला षोडषकला' के रचयिता 'भीमा' महाभारत के रचयिता कवि नाकर आदि।

कबीर के साथ जिनकी तुलना की जा सके ऐसे गुजराती कवि है अक्षयदास जो अखो के नाम से ही प्रसिद्ध है। अखो ने सत्रहवी शताब्दी अपने छप्पय आदि मे धार्मिक आडम्बर, पाखंड आदि की घोर भर्त्सना की है। वे सुनार जाति के थे और अपनी मुंहबोली बहन के संदेह करने पर कि वे उसके स्वर्णालंकार चोरी करेंगे, वैरागी हो गये। चारों ओर तीर्थाटन कर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि गुरु भी पाखंडी होते है, तीर्थस्थान भी पापस्थान होते हैं और ज्ञान प्रायः शब्दो तक ही रह जाता है, व्यवहार में उसको कोई लाना नही चाहता। अखा ने 'चाबखा' शीर्षक से जिसका अर्थ है चाबुक, बिल्कुल कबीर की तरह धर्म के ठेकेदारियों और दंभ करने वाले पाखंडियो पर तीखी वाणी के खूब चाबुक चलाये हैं। ढोंगी गुरु के लिए वे कहते है—

गुरु थई बेठो होंशे करी, कठे पहाण, शके क्यम तरी
पोते हरि नही जाणे लेश, काढी बेठो गुरुनो वेश।"

वे तो कहते है कि तू ही अपना गुरु बन, बस अनतर्मुखी हो जा।

"गुरु था तारो तु ज————--वाळय अतरमा सेवा"

धार्मिक पाखडों की निरर्थकता पर उनकी ये पक्तिया देखिए—

तिलक करता त्रेयन वह्या, जप मालाना जाकां गया
तीर्थ फरी फरी थाक्यो चरण तोय न पहोंचा हरि ने शरण
कथा सुणी सुणी फूटयां कान, अखा तोय न आव्युं ब्रह्मज्ञान

एक स्थान पर वे कहते हे :

"एक मूरख ने एवी टेव, पत्थर एटला पूजे देव"

'अखे गीता', 'अनुभव बिंदु', 'पंचीकरण,' 'गुरुशिष्य संवाद,' 'कैवल्यगीता', 'परमपद प्राप्ति' आदि अखा की रचनाएं प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में भी अखा की

'पंचदशी तात्पर्य' और 'ब्रह्मलीला' रचनाए उपलब्ध होती है। कबीर के समान वे हिन्दू-मुस्लिम भेद को मिटाना चाहते थे। एक स्थान पर कहा है—

'आपे आपमां उठी बला, एक कहे राम ने एक कहे अल्ला'

कबीर की तरह वे ऊंच-नीच के भेद की घोर भर्त्सना करते हुए कहते है—

'भूतपंचना आ संसार, मूरख ते वहे वर्ण अहंकार
भात चालवा वर्णावर्ण को मस्तक, हस्त, करि, चरण
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ने शूद्र, हरितो पिंड अरवा कोण शूद्र।'

वे तो कहते है— 'ऊंच नीच न गणे नारायण' आगे प्रेमानन्द, शामळ, रत्नेश्वर वल्लभ, विश्वनाथ जानी आदि ने भी भक्तिपरक आख्यान-काव्य लिख कर गुजराती के भक्ति साहित्य को समृद्ध किया।

इस प्रकार हम गुजराती भाषा और साहित्य मे आख्यान काव्यो की, ज्ञानपरक कविता की और कृष्ण भक्ति काव्य की परंपराएं तो पाते है, किन्तु रामभक्ति परक काव्य लगभग नहीवत् है यह ध्यान देने योग्य बात है। संभवतः इसका कारण यह है कि ब्रज की कृष्ण भक्ति परंपरा से गुजरात अधिक प्रभावित रहा, आज भी है और इसीलिए राम भक्ति काव्य को प्रवृत्ति कवि भालण आदि कवियों की गिनती की रचनाओं मे ही ढूढने पर मिलती है। सूर की तुलना का कवि नरसिंह मेहता गुजराती साहित्य मे है, मीरा तो द्वारिका में जाकर अन्तकाल तक वहीं थी इसलिए गुजरात की ही है, अपने गुजराती कृष्णभक्ति के पदो में आज भी वहां जीवित है, कबीर के समकक्ष कवि अरवो मिल जाते है, किन्तु महाकवि तुलसीदास जैसा कवि गुजरात में नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि हिन्दी मे सैकड़ो भक्त कवि भक्तिकाल के अन्तर्गत पाये जाते हैं, गुजराती में कुल मिलाकर भी कुछ गिनती के ही भक्तकवि मिलते हैं। गुजराती का भक्तिकाव्य न तो हिन्दी के भक्तिकाव्य के समान न तो अधिक वैविध्यपूर्ण है और न ही अनुभूति और अभिव्यक्ति की सूक्ष्मताओ से स्पंदित और ओतप्रोत ही है। किन्तु तब भी महात्मा गांधीजी ने नरसिंह मेहता को राष्ट्रीय भक्तकवि बना दिया, उनके 'वैष्णव जन तो तेने कहिए भजन को राष्ट्रीय भजन का गौरव प्रदान कराया यह गुजराती भक्ति साहित्य के लिए उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण बात है। सभी भाषाओ के श्रेष्ठ गायकों ने इसे नये-नये लय में गाया है और अंतर्राष्ट्रीय स्तर के 'गांधी' चलचित्र में भी इस लोकप्रिय भजन का सुन्दर, सरस, मधुर, प्रस्तुतीकरण हुआ है, यह गुजराती भक्ति साहित्य के लिए अभिमान की तो नही, पर गौरव की बात तो अवश्य ही है।

# हिंदी-उर्दू · भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का साहित्य

डॉ० बी० सत्यनारायण

भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन, देश के इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। भारत मे स्वातन्त्र्य-बीज बोने तथा उन्हे विकसित करने का काम युगीन नेताओ के बलिदान, ओजस्वी तथा आवेगपूर्ण भाषणो के साथ साथ तत्कालीन भारतीय साहित्यकारो ने भी किया। इस युग मे भारतीय साहित्य का प्रयोजन प्राय समाज-जागरण, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन की ओर जनता को उन्मुख करना था। इससे साहित्य का जन-जीवन के साथ निकट-सम्पर्क स्थापित हुआ। हिन्दी-उर्दू के साहित्यकार स्वतन्त्रता-आन्दोलन के उन्ही पक्षो से अधिक प्रभावित रहे, जो सामान्य जनता के जीवन से अधिक सम्बद्ध थे। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशको (सन् 1900 से 1920 ई०) के हिन्दी उर्दू काव्य मे स्वतन्त्रता आन्दोलन की जो अभिव्यक्ति हुई है, अर्थात स्वतन्त्रता आन्दोलन को तीव्र रूप प्रदान करने मे युगीन हिन्दी-उर्दू कवियो का जो योगदान रहा है, उसे निम्नलिखित बिन्दुओ की सहायता से समझा जा सकता है।

## राजभक्ति तथा देशभक्ति

राजा के प्रति अपनी भक्ति व श्रद्धा को अभिव्यक्त करना, राजा का गुणगान करना, राजा को ईश्वर रूप मे देखना, आदि की परम्परा हमारे देश मे प्राचीन काल से विद्यमान है। आलोच्य युग मे देश-प्रेम के उद्गारो की अभिव्यक्ति का आरम्भ 'राजभक्ति' तथा 'देशभक्ति' के माध्यम से हुआ है।

प० बदरीनारायण 'प्रेमघन' के काव्य मे राजभक्ति से युक्त देशभक्ति के उद्गार युग के अन्य कवियो की अपेक्षा अधिक मिलते है। उन्होने 1900 ई० मे महारानी विक्टोरिया की हीरक जुबली के अवसर पर 'हार्दिक-हर्षादर्श' सन् 1901 मे सम्राट सप्तम एडवर्ड के साम्राज्याभिषेक के अवसर पर 'भारत बधाई', सन् 1906 मे युवराज जार्ज फ्रेडरिक अर्नेस्ट आलबर्ट प्रिन्स आफ् वेल्स के भारत आगमन पर 'आर्याभिनन्दन' की रचना की। इन रचनाओ मे प्रेमघन ने

तत्कालीन शासकों की प्रशंसा करते हुए, भारत के सुधार की मांग की। प्रेमघन की उक्त कविताओं को 'खुशामदी कविता' की श्रेणी में रखना भारी भूल होगी। वैसे, इस युग में राजभक्ति के नाम पर चाटुकारिता का भी अभाव नहीं था। पं० रामचरित उपाध्याय ने स्वार्थपूर्ण राजभक्ति की अभिव्यक्ति पर तीखा व्यंग्य किया (खुशामदी टट्टू, राष्ट्रीय सिंहनाद)। प्रेमघन को खुशामदी टट्टुओं से सख्त नफ़रत थी (आनन्द कादम्बिनी, माला-8, पौष और माघ संवत् 1965 वि० पृ० 37)। प्रेमघन की कविताओं में शुद्ध राजभक्ति के साथ-साथ देशभक्ति की प्रबल भावनाएं भी निहित है, जो युगीन स्वतंत्रता-आन्दोलन की जागरूक चेतना का परिचायक है।

आलोच्य युग में राजभक्ति सम्बन्धी कविताएं प्राय: श्रीमती एनी बेमण्ट तथा उनके अनुयायियों का प्रसिद्ध सिद्धान्त 'फॉर गॉड, क्राउन अण्ड कन्ट्री' की परम्परा में भी लिखी जा रही थी।

उर्दू-काव्य में राजभक्ति के उद्गार हिन्दी-काव्य की तुलना में बहुत ही कम मिलते हैं। उर्दू-कवियों ने अंग्रेज शासकों के जलसो वा जश्नो का यथार्थ चित्रण तो किया, परन्तु उनके प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन नही किया। अकबर इलाहाबादी ने पहली जनवरी सन् 1901 को देहली में एडवर्ड सप्तम के जश्ने-ताजपोशी के संदर्भ में जो दरबार हुआ था और जिसमें एडवर्ड सप्तम की अनुपस्थिति में उनके प्रतिनिधि के रूप में ड्यूक आफ़ कनाट शरीक हुए थे, उस पर 'जल्व:-ए-देहली दरबार' शीर्षक कविता लिखी थी, जिसमें शाइर ने दरबार का आंखों देखा हाल बयान किया और अन्त में यह व्यंग्य भी किया —

महफ़िल उनकी साकी उनका
आंखें मेरी बाक़ी उनका

आगे चलकर अकबर ने सन् 1911 में जार्ज पंचम के जश्ने-ताजपोशी के अवसर पर 'देहली दरबार' शीर्षक कविता की रचना की। उन्होंने अंग्रेजी राज पर एक तंज़िया नज्म 'ब्रिटिश राज' और अंधी राजभक्ति पर 'कोराना अंग्रेज-परस्ती' कविता लिखकर अपनी स्वतंत्र विचारधारा का परिचय दिया, जो आज़ादी की भावनाओं का परिचायक है।

इस सीमित अध्ययन से पता चलता है कि आलोच्य युग के कवियों में कोरी राजभक्ति नही थी, अपितु उनकी यह भावना देशभक्ति की भावनाओं से अनुप्राणित थी। इन कवियों ने जहां-जहा भी अंग्रेज प्रशासकों का स्वागत किया, वहां-वहां देश की दुर्दशा का सिंहावलोकन कर देश में सुधार की मांग का प्रस्ताव भी रखा, जो स्वतंत्रता-आन्दोलन का एक माध्यम था। इन कवियों ने अंग्रेजों की दृष्टि में अपना स्थान जमाये रखते हुए, जनमानस में अंग्रेजों के दुष्कर्मों को फैलाते हुए विक्षोभ पैदा किया। शासन की कठोर व्यवस्था के कारण स्वतंत्रता-आन्दोलन

के ये सेनानी (कवि) सरकार का प्रत्यक्ष विरोध नही कर सके, यदि किए होते तो वीर सावरकर तथा तिलक की भाति उन्हें आजीवन कारावास का दण्ड भोगना पडता था।

## अतीत का गौरवगान

आलोच्य कालीन भारत मे स्वतत्रता-आन्दोलन की अभिव्यक्ति का एक शातिमय माध्यम 'अतीत का गौरवगान' था। उन दिनो भारत मे विद्या, कला-कौशल, सभ्यता के साथ-साथ देश-प्रेम व देशभक्ति की भावनाओ का शोचनीय अभाव था। इस अभाव की पूर्ति मे युगीन हिन्दी-उर्दू के कवियो ने भारत के स्वर्णिम अतीत का गौरवगान कर भारतीयो को स्वतत्रता-आन्दोलन के प्रति अनुप्राणित किया। कवियो का यह भी विचार था कि—"पतित जातियो को उनके उत्थान मे उनके अतीत गौरव का स्मरण बहुत बडा सहायक होता है" (सियारामशरण गुप्त : मौर्य विजय, भूमिका)। अत अतीत से प्रेरणा लेकर वर्तमान को एक नयी शक्ति व स्फूर्ति प्रदान करना युगीन कवियो का एक लक्ष्य रहा है।

डा० मुहम्मद इकबाल ने 'सारे जहा मे अच्छा हिन्दोस्ता हमारा' का तराना सुनाकर भारत की अनन्त महिमा का गुणगान करते हुए लिखा है—

'यूनानो-मिस्रो-रूमा सब मिट गये जहा से
अब तक मगर है बाकी नामो-निशा हमारा'

भारत माता के प्रथम महागायक प० श्रीधर पाठक ने भी भारत की अगार ज्ञान-सपदा का परिचय दिया (सम्पा० अज्ञेय, पुष्करिणी)। युग-नेता महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है—

जलवा तेरा जग मे छाया
जो जिसने मागा सो पाया
गैरो को भी सभ्य बनाया

('मेरे प्यारे हिन्दुस्तान', सरस्वती, नवम्बर, 1920)

प० ब्रजनारायण 'चकबस्त' ने—'अय खाके-हिन्द तिरी अज़मत मे क्या गुमा है" (खाके वतन) लिखकर भारत की महानता को उजागर किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत अपने प्राचीन काल मे ससार का गुरु (शिक्षक) था। भारत के गुरुत्व का प्रतिनिधित्व करते हुए प०.आनन्दनारायण शुक्ल ने लिखा है—

लिये गैर-मुल्को ने तुझसे सबक
तिरी दास्ता के उडाये वरक

('ज़मीने वतन', हिन्दोस्ता हमारा, भाग-1)

फिराक ने (गोरखपुरी) 'अय मादरे-वतन' कविता मे भारतमाता का गुण-

गान किया। ज़फरअली खा नें 'हिन्दोस्ता' शीर्षक कविता मे भारत के प्रति अपनी अखण्ड प्रेम-भावना को प्रकट किया और अपनी साम्प्रदायिक उदारता को इन शब्दो मे अभिव्यक्त किया, जो तारीफ़े काबिल है—

"नाकूस से गरज़ है न मतलब अज़ा से है
मुझको अगर है इश्क तो हिन्दोस्ता से है"

'सागर' निजामी 'तरान-ए-वतन' मे भारत-प्रेम की अपनी तीव्र आकाक्षा को लेकर स्वतन्त्रता-आन्दोलन मे कूद पडे। जोश मलीहाबादी ने 'वतन' शीर्षक कविता मे भारत से अपना अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया। जा निसार अख्तर ने भी भारत के प्रति अपनी अखण्ड भक्ति का परिचय देते हुए लिखा है —

"मुहब्बत है खाक वतन से हमे
महब्बत हे अपने चमन से हमे"

('बाद-ए-वतन', हिन्दोस्ता हमारा, भाग-1)

किन्तु डा० मुहम्मद इकबाल ने 'अतीत वर्णन' को तत्कालीन परिस्थितियो के अनुरूप अनुपयुक्त समझा। उन्होने कविता मे कहा —

"जरा देख इसको जो कुछ हो रहा हे होने वाला है
धरा क्या है भला अहदे कुहन की दास्तानो मे।"

('तस्वीरे दर्द', हिन्दोस्ता हमारा, भाग-2)

हिन्दी म गुप्त बन्धुओ (भारत-भारती, मौर्य-विजय), प० लोचनप्रसाद पाण्डेय (पत्र-पुष्पाजलि), प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ('भारतवर्ष', सरस्वती, अक्तूबर 1920), प० रूपनारायण पाण्डेय ('मातृमूर्ति', सरस्वती, जून 1913), प० रामचरित उपाध्याय (सरस्वती, अगस्त 1918), आदि कवियो ने भारत को ससार का 'सिरमौर', शिरोमणि, स्वर्ग से न्यारा माना है। इन हिन्दी-उर्दू कवियो ने तत्कालीन भारतीयो की हीन-भावना (इनफीरियारिटी काम्प्लेक्स) को उखाड फेंकने का अथक परिश्रम किया है। भारतीय गौरव की अखण्डता को पुनरुज्जीवित करते हुए स्वतन्त्रता-आन्दोलन की चेतना को जाग्रत करने का निरन्तर प्रयत्न किया, युगीन कवियो ने।

## जन-जागरण

आलोच्य काल के हिन्दी-उर्दू कवियो ने अपने काव्य के माध्यम से अपने-अपने पाठको मे 'जन-जागरण' का पुनीत कार्य भी किया, जो तत्कालीन स्वतन्त्रता-आन्दोलन के लिए परम आवश्यक था। कवियो का जागरण स्वर, कही प्रार्थना के रूप मे तो कही उद्बोधनात्मक शैली मे व्यक्त हुआ। जन-जागरण के क्षेत्र मे मैथिलीशरण गुप्त का स्थान अग्रगण्य रहा है। उनकी 'भारत-भारती' जागरण का उद्घोष करती हुई अवतरित (सन 1912) हुई—

"हे भाइयो ! सोये बहुत, अब तो उठो जागो अहो।"

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'भारत-भारती' के सम्बन्ध मे लिखा है— "इसमे वह सजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नही हो सकती। इससे हम लोगो की मृतप्राय नसो मे शक्ति का सचार हो सकता है" (सम्पादकीय, सरस्वती, अगस्त 1914)।

प० रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने देश की दुर्दशा की ओर 'भारत-सन्तान' का ध्यान आकृष्ट करते हुए जागरण का उद्‌बोधन (स्वदेशी-कुण्डल, पूर्णसग्रह) दिया तो प० नाथूरामशकर ने देशवासियो को जाग्रत करते हुए देश की वेदी पर प्राणो की बलि देने की प्रेरणा ('बलिदान-गान', शकर-सर्वस्व) दी। प० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने देश-सेवा के निमित्त धन-दौलत, व्यापार आदि को तुच्छ ठहराया (त्रिशूल तरग, पृ० 15) प० मातादीन 'शुक्ल' ने समझाया कि राष्ट्र की सेवा ही मानव-जीवन का सार है और इस समय भारतीयो को 'धर्म-वीर' और 'कर्म-वीर' बनकर देश का उद्धार करना होगा ('निवेदन', कान्यकुब्ज नायक, अक्तूबर 1919)।

ख्वाजा अल्ताफ हुसैन हाली ने सामाजिक जागरण पर जोर देते हुए नारा लगाया कि "बस बहुत सोये, उठो होश मे आओ" ('हुब्बे वतन', हिन्दोस्ता हमारा, भाग-2)। ज़फरअली खा अपने समय के एक जागरूक शाइर होने के नाते कुछ कर दिखाने की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखते हैं—

"हो तुम जिसके जर्रे वह है खाके-हिन्द
छुपे है जो इसमे वह जौहर दिखाओ"

('दावते अमल', हिन्दोस्ता हमारा, भाग-2)

मुहम्मद हुसैन महवी लखनवी ने 'समय' मे आग्रह किया कि

"तिरी बरबादिया देखी नही जाती हैं अब हम से
खुदा के वास्ते उठ और हो आजाद इस गम से"

('वक्ते-बेदारी' -हिन्दोस्ता हमारा, भाग-2)

महमूद इसराईली ने बुल-बुल के आर्त्तनाद को शब्दबद्ध करते हुए लिखा है—

"इन्क़िलाब आया, नये सैयारे अब गर्दिश मे हैं
अपनी आखे खोल, वह रफ़तारे-दौरा हो चुकी"

('नाल -ए-अन्दलीब, हिन्दोस्ता हमारा, भाग-2)

सागर निजामी ने अधिकारो की रक्षा हेतु पैग़ाम देते हुए लिखा है—

"उठ अय मशिरक और अपने हक्के-फ़ितरत की हिफाज़त कर
जो आजादी तिरा मक्सूम है उसकी हिमायत कर"

('पैगामे अमल', हिन्दोस्ता हमारा, भाग-2)

इस प्रकार हिन्दी-उर्दू कवियो ने भारत की सुप्त जनता को जगाने मे अपना

विशेष योगदान दिया। तत्कालीन शासन के विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने में जागरणधर्मी उद्‌गारों का अत्यधिक महत्त्व है।

## स्वदेश, स्वदेशी, स्वराज्य-आन्दोलन

'स्वराज्य' जीवित राष्ट्र का एक लक्षण है। स्वराज्य के अभाव में कोई राष्ट्र अपनी अभिव्यक्ति तथा अपना हित-सपादन नही कर सकता। राष्ट्र मे स्वतत्रता की कामना व आकाक्षा देशवासियो के जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता होती है। राष्ट्र, मानव-समुदाय मात्र नही होता, अपितु वह एक जीवत इकाई है। किसी देश का 'स्वतत्रता-आन्दोलन' इस इकाई के आधार पर ही निर्भर रहता है।

अंग्रेजों के शासन-काल मे हमारी अवनति की जड हमारी मानसिक दुर्बलता रही। स्वार्थ एव अकर्मण्यता की भावनाओ से हम घिरे रहे। शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी उसके सदुपयोग से हम अनभिज्ञ ही रहे। यहा तक कि एक लम्बी अवधि तक हमारे मन मे स्वदेश, स्वराज्य की कल्पना भी दूर होती गयी।

'स्वराज्य' भारत की अपनी प्रकृति है। 'स्वराज्य' ध्येय के सहारे देश की जनता मे प्रबल पुरुषार्थ, सेवा तथा त्याग की भावनाओं को पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। यह कार्य भारत में हुआ, अर्थात् राष्ट्र-जीवन की आत्मा बलवती हुई।

स्वदेश, स्वदेशी, स्वराज्य तथा स्वतंत्रता आन्दोलन का वास्तविक आरम्भ सन 1905 की बग-भग की घटना से हुआ। इस घटना से देश मे तीव्र असन्तोष फैला। इस असन्तोष ने 'वन्देमातरम्' आन्दोलन का रूप ले लिया। देश में स्वदेशी की भावनाए तीव्रतर होती गयी, जिन्हे सर्वव्यापी बनाने मे युग के हिन्दी-उर्दू कवियो ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारत-वन्दना के महागायक प० श्रीधर पाठक ने अस्पताल की रोग-शय्या से स्वदेश की महिमा का गौरवगान निम्नलिखित पक्तियो मे किया--

"निज स्वदेश ही एक सर्व-परब्रह्म-लोक है
निज स्वदेश ही एक सर्व-पर अमर-लोक है
निज स्वदेश विज्ञान-ज्ञान-आनंद-धाम है
निज स्वदेश ही भुवि त्रिलोक-शोभाभिराम है।"

(भारत गीत, पृ० 141)

अंग्रेजो ने अपनी स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीतियों के द्वारा भारत की आर्थिक सपदा का यथेष्ट शोषण किया। इस कारण, देश मे स्वदेशी-आदोलन का जन्म हुआ। 'बॉयकाट' स्वदेशी आन्दोलन का शस्त्र बना। विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार होता गया और स्वदेशी वस्तुओं का प्रचलन बढ़ता गया। इन सभी घटनाओं का यथार्थ चित्रण युगीन हिन्दी-उर्दू काव्य में उपलब्ध है।

रायदेवीप्रसाद पूर्ण ने 'स्वदेशी-कुण्डल' में स्वदेशी वस्तुओं को ग्रहण करने का बिगुल बजाते हुए भारत की औद्योगिक उन्नति के लिए मशीन युग की आवश्यकता पर बल दिया। युगीन जन-मानस में भी विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की धारणा बलवती होती गयी। बम्बई के एक सज्जन ने अंग्रेजी भाषा में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर एक लेख छपवा कर कई सहस्र अनुरोध-पत्र देश-देशान्तरो में बांटे, जिसका एक अश यहां द्रष्टव्य है --

"रिजाल्व रादर टु डाइ दान टच वन इच आफ् म्याचेस्टर क्लाथ देर ईज एनर्जी एनफ़ इन दि कट्री टु सप्लाइ दि वान्ट्स आफ् इट्स पीपुल यूज इण्डिया क्लाथ अण्ड इडियन एलोन।" (भारत जीवन, 23-3-1896)।

पं० नाथूरामशंकर ने विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार में दृढ़ प्रतिज्ञ होने पर जोर दिया (शंकर-सर्वस्व, पृ० 331)। प० लोचनप्रसाद पांडेय ने विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार मात्र नही चाहा, अपितु उन वस्तुओं का सर्वनाश कर डालने पर बल दिया—

"सबै स्वदेशी वस्तु लेन हित 'एवमस्तु' करि।
परदेशी वस्तुन तमाम नाशन को प्रण धरि॥" (पुष्पांजलि, पृ० 22)

आलोच्यकालीन भारत में, विदेशी वस्तुओ का बेहद प्रचलन था, अर्थात् -- "जो वस्तु देखो, 'मेड इन' इग्लैड, इटली, जर्मनी, जापान, फ्रास, अमेरिका व अन्य देशो की बनी" (भारत-भारती) थी। उर्दू शाइर अहमक फफूंदवी ने 'अहदे-फिरग' कविता मे इस स्थिति पर करारी चोट करते हुए लिखा है--

"या यह आलम है कि जापान अगर रहम न खाये
अपनी मैयत को कफन के भी मिलने में दरंग।"

(हिन्दोस्ता हमारा, भाग-II)

स्वदेशी आन्दोलन के परिणामस्वरूप देश में स्वदेशी वस्तुओ का प्रचलन बढ़ा और विदेशी व्यापारियों की काफी हानि हुई (मासिक 'लक्ष्मी', सितम्बर 1908)। इस स्थिति का समर्थन उर्दू-शाइर लाला लालचन्द फ़लक की 'बेदारिए हिन्द' की इन पक्तियो से भी हो जाता है—

"तरक्की पर है इन रोजों 'फलक' परचार देसी का।
पराये देश की चीज़ो से नफ़रत होती जाती है॥"

(हिन्दोस्तां हमारा, भाग-II)

अप्रैल, 1916 में पूना में लोकमान्य तिलक के द्वारा 'होमरूल' (स्वराज्य) लीग की स्थापना हुई। तिलक ने 'केसरी' (दैनिक) और 'मराठा' (साप्ताहिक) पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा होमरूल का प्रचार किया। श्रीमती बेसण्ट ने भी 'न्यू इंडिया' (दैनिक) और 'कामन व्हील' (साप्ताहिक) पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा होम-रूल का प्रबल प्रचार किया। नतीजा यह हुआ कि "पंजाब सरकार···ने आज्ञा

देकर लोकमान्य तिलक को देहली और पंजाब के भीतर प्रवेश करने की मनाही कर दी।" (केशवकुमार ठाकुर : भारत में अंग्रेजी राज्य के दो सौ वर्ष, पृ० 496) लीग की सभाओं में भाग लेने से छात्रों को रोका गया (मन्मथनाथ गुप्त : राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, पृ० 281)। सरकार की इस दमन नीति से होमरूल आन्दोलन का प्रचार घटा नहीं, अपितु वह बढ़ता ही गया (गुरुमुख निहालसिंह : भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास, पृ० 319)।। इधर हिन्दी-उर्दू कवियों ने होमरूल के प्रचार को अपने कन्धों पर लिया। ब्रजनारायण चकबस्त अपने समय के एक सच्चे स्वतन्त्रता सेनानी थे, जिनका क्षेत्र उर्दू-काव्य रहा। वे होमरूल-आन्दोलन से मुतासिर हुए बिना नहीं रह सके, क्योंकि उस समय की स्थिति का वर्णन उन्हीं के कलम से 'आवाज़-ए-कौम' में द्रष्टव्य है—

"ज़मी से अर्श तलक शोर होमरूल का है।
शबाब क़ौम का है, ज़ोर होमरूल का है।।"

(हिन्दोस्तां हमारा-II)

चकबस्त ने अनुभव किया कि भारत की दीनता को दूर करने का एक मात्र उपाय 'होमरूल' (स्वराज्य) की प्राप्ति ही है और इसके बिना शांति की स्थापना हो नही पायेगी, अर्थात्---

"दिलों को मस्त जो करती है वह हवा है यही।
गरीब हिन्द के आजार की दवा है यही।।" (हि० ह० II)

चकबस्त स्वराज्य की भावनाओं से ओत-प्रोत थे। उन्होंने राष्ट्रीय सिंहनाद की गर्जना करते हुए लिखा है -

"यह जोश पाक जमाना दबा नहीं सकता।
रगों में खू की हरारत मिटा नहीं सकता।
यह आग वह है जो पानी बुझा नहीं सकता।
दिलों में आके ये अरमान जा नहीं सकता।।"

प्रथम विश्वयुद्ध से भारत का किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं था। अंग्रेजों के अधीन होने मात्र से भारत को विवश होकर युद्ध में शामिल होना पड़ा। क्योंकि ब्रिटिश-सरकार ने युद्ध में भारतीयों की सहायता मांगी थी और गांधी भी मदद के लिए तैयार हुए। अतः भारत के सभी धर्मों के सेनानियों ने तन-मन-धन से सरकार की मदद की, जिसका आंखों देखा हाल पं० श्रीधर पाठक की कविता — 'कृतज्ञता ब्रिटेन की भारत के प्रति' में मिलता है (भारत-गीत, पृ० 167)। उर्दू के शिब्ली नोमानी एक ऐसे क्रान्तिकारी शाइर थे, जिन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अंग्रेजों का साथ देने से साफ इनकार कर दिया था। उन्होंने इस सन्दर्भ में 'जंगे-यूरोप और हिन्दुस्तानी' शीर्षक कविता की रचना की, जिसमें उन्होंने एक जर्मन के माध्यम से बरतानिया के फौज की शक्ति-हीनता पर करारा व्यंग्य किया

था। फलस्वरूप शिबली नोमानी के नाम गिरफ्तारी का वारट जारी किया गया था, किंतु उस वारट के अमल होने से पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया था।

भारतीयो को विश्वास था कि प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त सरकार उनकी मागे पूरी करेगी, क्योकि भारत की जनता ने युद्ध के दौरान सरकार की यथोचित सेवा की थी। सेवा के बदले उन्हे फरवरी, 1019 मे 'रौलट एक्ट' का पुरस्कार मिला। "रौलट एक्ट पास होते ही राजनीति गरमाई।" (शकर-सर्वस्व, पृ० 466)। सरकार ने भारत की बढती हुई राजनीतिक चेतना को कुचलना आरम्भ कर दिया। 13-4-1919 को पजाब मे भारतीय स्वतन्त्रता आदोलन की प्रसिद्ध दर्दनाक घटना 'जलिया वाला बाग' घटी। जनरल डायर के नृशसात्मक कार्यो का हवाला युगीन हिन्दी-उर्दू काव्यो मे मिलता है। जफर॰ अली खा ने 'मजालिमे-पजाब' कविता मे डायर के अत्याचारो का ब्यौरा देते हुए अपने ख्वाजा से कहा कि 'आप भी पजाब मे एक बार पेट के बल रेग कर देखिए, गुजरो-नाम हटर खाकर देखिए, जमी पर नाक से लकीर खीच कर देखिए, बाज मांगने मस्जिद मे जाने के जुर्म मे अपनी पीठ पर चाबुक की रेखाए खिचवाइए, दिन मे सोलह मील हापने-कापते चलिए और जेल मे जाकर ककर की दाल खाते हुए सरकार के घर मेहमान बन कर रहिए तो तब कहूगा कि प्रलय तक मार्शल ला कायम रहे या आप भी जनरल ओडायर से इकार करने वालो मे से एक होगे। हिन्दी-कवि प० नाथूराम शकर ने भी 'हत्यारी होली कविता मे डायर के अमानुषिक व्यवहार को प्रतिध्वनित किया। उर्दू-कवि त्रिलोकचन्द महरूम ने 'शिकव-ए सैयाद' मे सरकार से अपनी शिकायत तो की, किन्तु अन्त मे निराश होकर उन्हे लिखना पडा--

"न तडपने की इजाजत है न फरियाद की है।'

उन दिनो शासन की ऐसी कठोर व्यवस्था थी कि भारतीयो को किसी भी प्रकार की आजादी नही थी। डा० मुहम्मद इकबाल ने लिखा है--

"यह दस्तूरे-जबाबन्दी है कैसी तेरी महफिल मे।
यहा तो बात करने को तरसती है जबा मेरी।"

('तस्वीरे दर्द', हिन्दोस्ता हमारा-II)

लेकिन ब्रजनारायण चकबस्त का कहना था

"पिनहाने वाले अगर बेडिया पिनहायेगे।
खुशी से कैद के गोशे को हम बसायेगे॥"

('वतन का राग', हि० हमारा, भाग-II)

सरकार के अत्याचारो से तग आकर प० नाथूराम शकर ने सरकार को 'जरासध' (समस्यापूर्ति, शकर-सर्वस्व) और प० रूपनारायण पाण्डेय ने 'दु शासन' ('अहिंसा सग्राम', पराग) की सज्ञाए देते हुए शासन की निन्दा की और अपने

आक्रोश को व्यक्त किया। इस प्रकार युगीन कवियों ने अपने काव्य में राजनीतिक घटनाओं का चित्रण कर जन-मानस में विक्षोभ तथा आक्रोश को जगाया।

## साम्प्रदायिक एकता

भारतीयों की बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना को भंग करने के लिए अंग्रेजों ने 'डिवाइड एण्ड रूल' की नीति अपनाई थी। अपनी इस नीति मे अग्रेज, कुछ हद तक सफल भी हुए। अर्थात् हिन्दू-मुस्लिम दोनों जातियो के कुछ लोगों में वैमनस्य बढ़ता गया, जिसका इजहार अहमक फफूदवी के इन उद्‌गारों में हुआ—

"न वह पहली सी मुहब्बत न वह अगला सा ख़ुलूस
न बिरहमन में वह अन्दाज, न वह शेख मे ढग"
× × ×
न दसहरे में वह रौनक न मुहर्रम में वह शान
बर्छियां सीनो मे पिन्हा है निगाहों में खदंग"

यह वैमनस्य आजादी की लड़ाई में घातक सिद्ध हुआ। जागरूक हिन्दी-उर्दू कवियों ने साम्पदायिक एकता की भावना का खुलेआम प्रचार करना आरम्भ कर दिया। पं० रायदेवीप्रसाद पूर्ण ने 'स्वदेशी-कुण्डल' में लिखा है---

"मुसलमान हिन्दुओ! वही है कौमी दुश्मन,
जुदा-जुदा जो करे फाड कर चोली दामन" (पूर्ण-संग्रह)

ख़्वाजा अल्ताफ़ हुसैन हाली ने आपसी भेद-भाव को समाप्त करने का उदबोधन देते हुए लिखा है—

"तुम अगर चाहते हो मुल्क की खैर
न किसी हमवतन को समझो गैर
हों मुसलमान इनमें या हिन्दू
बौद्ध मजहब हो या कि हो ब्रहमू"

(हुब्बे वतन, हिन्दोस्तां हमारा-II)

ज़फर अली खां ने हिन्दू भाइयों के प्रति अपना अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया और अपने मुस्लिम भाइयो को उद्‌बुद्ध करते हुए नारा लगाया कि —

"पसीना गिरे हिन्दुओं का जहा
वहां तुम मुसलमानों का खूं बहाओ"

('दावते अमल', हिन्दोस्तां हमारा-II)

युगीन हिन्दी कवि 'धनुधर' ('जातीयता', कान्यकुब्ज-नायक, दिसम्बर-1919), प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ('भारतवर्ष', सरस्वती, अक्तूबर 1920), प० रामनरेश त्रिपाठी ('जन्मभूमि भारत', सरस्वती, जनवरी 1914), आदि ने 'हिन्दू-मुस्लिम भाई भाई' का नारा लगाया। परिणाम यह हुआ कि देश में

साम्प्रदायिक वैमनस्य के स्थान पर सामरस्य की लहर चलने लगी, जिसे युगीन हिन्दी-उर्दू कवियो ने—अपने काव्य में मुखरित किया। भारतीय आत्मा पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने स्वीकार किया कि —

"टूटे हुए, वे प्रेम-बन्धन प्रेम से जुडने लगे,
भूले हुए, सीधे पथो की ओर भी मुडने लगे।"

('चेतावनी', राष्ट्रीय वीणा)

इस खुशहाली पर लाला लालचन्द फलक ने मुबारकबाद पेश करते हुए लिखा है कि –

"मुबारक हिन्द की बेदार किस्मत होती जाती है।
नुमाया हिन्दियो में अब उखूवत होती जाती है।".

('बेदारिए-हिन्द', हिन्दोस्ता हमारा, भाग-2)

इस प्रकार युगीन हिन्दी उर्दू कवियो ने साम्प्रदायिक अर्थात राष्ट्रीय एक्य को स्वतत्रता आदोलन के लिए अत्यन्त आवश्यक तत्त्व के रूप मे ग्रहण किया। कवियो की मातृ भावना अपनी-अपनी संस्कृतियो की एक विशेषता रही है। इस एकता के महत्त्व पर बल देते हुए कवियो ने देशवासियो का ध्यान स्वतत्रता आन्दोलन की ओर अग्रसर किया। कवियो का यह योगदान अविस्मरणीय है।

आलोच्यकालीन हिन्दी-उर्दू काव्य ने भारतीय स्वतत्रता आन्दोलन मे मिला-जुला रोल अदा किया है। दोनो की काव्य प्रवृत्तिया लगभग एक सी चली है। इससे स्वतत्रता आन्दोलन को सबल मिला है। हिन्दी-काव्य की भाति उर्दू-शायरी भी भारत की महानता का आरम्भ से ही उजागर करती हुई आयी है। युगीन कवियो के अनुसार देशभक्ति का तात्पर्य देश के प्रति प्रेम-भाव को रखना या अभि-व्यक्त करना मात्र नही है, अपितु देश के महान कार्यों पर गर्व करना तथा देश की मिट्टी के कण-कण से प्रेम करना और उस की हर मुसीबत मे अपनी कुर्बानी के लिए तैयार रहना है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हिन्दी-उर्दू काव्य भारतीय स्वतत्रता आन्दोलन के इतिहास को अपने सीने मे समाये हुए है। दोनो काव्यो ने युग की राजनीतिक घटनाओ का यथार्थ चित्रण कर अपेक्षित राजनीतिक चेतना को तीव्रतर बनाने में कोई कसर बाकी नही रखा। दूसरे मानो मे हिन्दी-उर्दू कविता युगीन ब्रिटिश-शासन के विरुद्ध युद्ध की क्षमता रखती है। इन कवियो मे कुछ ऐसे कवि भी हुए हैं, जिनकी भावनाए फासी के फदे तक की परवाह नही करती। आलोच्य काल की हिन्दी-उर्दू कविता को केवल 'प्रचार का साहित्य' मानना अनुचित होगा, क्योकि 'जन-मानस' मे सरकार के प्रति विद्रोह को जगाने के लिए प्रचारात्मक शैली ही उपयुक्त समझी गयी। हमे गर्व है कि हिन्दी-उर्दू काव्य मे भारतीय स्वतत्रता आन्दोलन की विश्वसनीय ऐतिहासिक पूजी है।

# हिन्दी-कन्नड़ : संत साहित्य

प्रा० अंतेश्वर बसपुरे

इक्कीसवी शती की ओर बढते समय देश बहुत ही नाजक दौर मे गुजर रहा है। राष्ट्रीय एकात्मता की बात बहुत धूमिल बनती जा रही हैं। इस सक्रमण अवस्था में समग्र भारतीयो को एकता के बधन मे बाध रखना विकट समस्या बन गयी है। विभिन्न स्तरो पर एकता की कडी को दृढ करने का प्रयास हो रहे है। मानवीय तथा सामाजिक चेतना को जगाने के लिए सबसे पहले यह जरूरी है कि वैचारिक परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाय। यह सभव है साहित्यिक धरातल पर ही। उत्तर-दक्षिण को एक सूत्र मे बाधना जरूरी है। याने अलग-अलग भारतीय भाषाओ के बीच तौलनिक अध्ययन आवश्यक है।

भारतीय भाषाओ में निर्मित साहित्य समग्र मानव जाति के लिए महान उपलब्धि है। हिन्दी, कन्नड, तेलुगु, मलयालम, तमिल, आदि साहित्य वर्तमान युगीन जीवन मे चिंतन को नई दिशा प्रदान करने मे सक्षम है। मानवतावादी जीवन दृष्टिकोण से परिपूर्ण भारतीय साहित्य समग्र भारतीयो को ही नही बल्कि विश्व-मानव को एक सूत्र मे बाधने मे सक्षम है। इस बात को ध्यान मे रखते हुए केवल हिन्दी तथा कन्नड सत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। विशेषता कन्नड सत मा० बसवेश्वर तथा सर्वज्ञ और हिन्दी सत कबीर के सदर्भ मे ही विवेचन प्रस्तुत है।

कन्नड का वचन साहित्य तथा हिन्दी का सत साहित्य इनमे अत्यादिक साम्य है। कन्नड भक्तिकाव्य मे अनेको वचनकार हो गये "इन वचनकारो मे पडित भी है, अनपढ भी हैं। पडितो ने आम जनता की भाषा मे याने सरल कन्नड मे ही अपने स्वानुभूतियो को व्यक्त किया है। इस प्रकार उन्होने सामान्य को असामान्य जीवन दृष्टि प्राप्त करने के लिए राजमार्ग खुला कर दिया। इन वचनो का आधार आध्यात्म और नीति है। इसी कारण से सदियो के बाद भी ये अजर और अमर है। स्वानुभाव से उमडकर निकली हुई यह आत्मा की वाणी है। कोई अमोघ आध्यात्म तत्व दो-चार छोटे वाक्यो मे व्यक्त हुआ है। अनेक बार यह वाणी

तुकबद्ध होकर लोकोक्तियों के रूप में व्यक्त हुई है। इन वचनों को कन्नड़ का उपनिषद मानकर गौरवान्वित करना सार्थक है।" शरण साहित्य में वचनकारों की सूची बहुत लम्बी है। पर केवश मा० बसवेश्वर, सर्वज्ञ के बचनों को मौलिकता को दर्शाते हुए हिन्दी सत कवि कबीरदासजी से तुलना प्रस्तुत है—

## मा० बसवेश्वर (1150)

बारहवी शती का समय भारतवर्ष के लिए अत्यन्त गौरवशाली कहा जा सकता है। उस समय सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक वातावरण विषमता से परिपूर्ण था। इन प्रतिकूल परिस्थितियो में ही मा० बसवेश्वर रूपी प्रखर व्यक्तित्व का सूरज उदित हुआ। आपका जन्म भले ही कर्नाटक प्रात मे हुआ हो पर आपके विचारो में समग्र मानव जीवन मे चेतना जगाने की क्षमता है। आपने लोकवाणी कन्नड भाषा को अपने विचारो की आलोक वाणी बनायी। यही कारण हे कि आज उनका वचन साहित्य विश्वभाषाओ म अनूदित हो रहा है। मानवतावादी तथा समाजवादी जीवन दृष्टिकोण ही उनके वचन साहित्य की प्रमुख विशेषता है। उनके वचन साहित्य को देखकर उन्हें न केवल वचनकार ही, बल्कि युगदृष्टा कर्मयोगी भी कह सकते है। 'कायक वे कैलास' इस उक्ति के आधार पर बसवेश्वर ने स्पष्ट किया कि कर्म करना ही इन्सान का धर्म है। कर्म करने मे ही सार्थक जीवन रूपी स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। वर्गविहीन क्रांति तथा अहिंसावादी विचारधारा को 12 वी शती मे प्रवाहित करते हुए बसव ने कहा था।

कळबेड, कॉलबेड, हुसिय नुडिलुबेड।
मुनिय बेड, अन्यरिगे असहय पडबेड।।
तन्न बण्णिसलु बेड, इदिर हळियलु बेड।
इदे अन्तरंग शुद्धि, इदे बहिरंग शुद्धि।।
इदे नम्म कूडल सगमन नॉलिसुब परि।

अर्थात :- चोरी मत करो, मारो मत, झूठ मत बोलो, क्रोध मत करो, दूसरो के प्रति घृणा मत दिखाओ, अपनी प्रशसा आप मत करो, सामने वाले की निंदा मत करो, यही अंतरंग शुद्धि और बहिरंग शुद्धि है, यही भगवान कूडल संगमदेव को सन्तुष्ट करने की हमारी रीति है।

मा० बसवेश्वर एक भक्त श्रेष्ठ तथा आध्यात्मिक नेता थे। बसव ने सामाजिक बुराइयो का खडन करते हुए जाति, वर्णभेद, ऊंच-नीच का भेदभाव दूर किया। विश्व मे पहली बार नारी की अवहेलना को दूर करते हुए उसे पुरुष के समानान्तर गौरव का स्थान दिलाया। धर्म का द्वार का द्वार सभी के लिए खोल दिया। कर्म, ज्ञानसाधना भक्ति, नीति का सुन्दर परिपाक आपके वचन साहित्य

में हुआ है। इसी विचारधारा को हम 15वीं शती में हुए संत कबीर के साहित्य में भी पाते हैं।

## सर्वज्ञ (सं० 1600)

दक्षिण क्षेत्र में महात्मा बसवेश्वर युग के बाद पुष्पदत्त नामक त्रिपदिकार का उदय हुआ। आप जनप्रिय कवि थे। आप अपनी प्रतिभा के कारण ही 'सर्वज्ञ' कहलाए। आपके वचनो की संख्या करीब दो हजार है। आपके बारे में समीक्षकों की यह राय है कि, 'उनकी वाणी लोक की आलोक वाणी थी। उन्होंने त्रिपदी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।' कहते हैं कि "उनके त्रिपदी में तीनों लोकों को नापने की शक्ति है। उनकी भाषा कहावतों एवं मुहावरों से भरी है। आपके त्रिपदियों में धार्मिक आडंबर, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, अहिंसावादी, सत्यवादी, मानवतावादी तथा कर्मठता आदि से संबंधित चिंतन प्रकट हुआ है। भगवान के संदर्भ में सर्वज्ञ की धारणा है —

"आ देव ई देव मादेव नंनवेड।
आ देवर देव-भुवन प्राणिगळिग दवनें
देव सर्वज्ञ"

अर्थात —"यह देव, वह देव, महादेव कहकर विभिन्न नामों से पुकारे जाने वाले इन सब देवों से सारे विश्व का अधिदेव बनकर समस्त विश्व को चैतन्य देने वाले जो चेतना स्वरूप है वही वास्तव में देव हैं।"

सर्वज्ञ का वचन (काव्य) नीतियों का अनमोल खजाना है। व्यवहार ज्ञान उनके त्रिपदियों में निहित है। फक्कड़ाना अंदाज वाला सर्वज्ञ जो कुछ भी उसने देखा उस पर निर्भयता से स्पष्ट शब्दों में कहा। कन्नड़ के कवि श्री बेन्द्रेजी ने सर्वज्ञ के बारे में कहा है "कवि दो प्रकार के होते हैं, वर्णक व दर्शक। जो बातें सभी लोगों को दिखायी देती हैं, वर्णक कवि उन्हीं का सरल वर्णन करते है। किन्तु कवि उन बातों को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखकर, जो दूसरों को नहीं दिखतीं, दूसरों को भी दिखलाते हैं। सर्वज्ञ ऐसा ही एक दर्शक कवि था। उसकी नीतियां कोरे शुष्क शब्दों का समन्वय नहीं, रसमय संभाषण है। उनका हास्य भी करुणायुक्त वैद्य द्वारा की गई शल्य चिकित्सा है।'[1]

## मा० बसवेश्वर सर्वज्ञ और कबीर : तुलनात्मक विवेचन

भारतीय इतिहास में बारहवीं शती से 17 वीं शती तक देश में जबरदस्त उथल-पुथल का वातावरण व्याप्त हो गया था। मानवीय मूल्यों का ह्रास, आतंक का वातावरण और चारों ओर लूटमार मची हुई थी। प्रतिकूल परिस्थितियों में एक साथ उत्तर-दक्षिण क्षेत्र में संत कवियों तथा शरण साहित्यिकों अपने ज्ञानज्योत को

जगाते हुए समाज में फैले हुए अज्ञानमय अंधकार को दूर किया। तीनो ही सतों का सृजन काल अलग-अलग है पर उनमे आत्मानुभूति विचारधारा, जीवन दृष्टि-कोण आदि मे समानता निहित है। तीनो का वैयक्तिक जीवन मीठे तथा कड़वे अनुभव मे प्रभावित था। तीनो सतो ने गुरु की महिमा का गान करते हुए उसे ईश्वर से बढ़कर माना है —

बसव "गुरु कारुण्यवे सदाचार।
गुरु कारुण्य वे शिवाचार॥
गुरु कारुण्यवे प्रसाद रुचि।
मुदे गुरु, हिंदे लिंग कूडल सगमदेव॥

सर्वज्ञ "परमना रूपदलि नेरवीयलरियदे।
नरगागी वन्दु वरवीद गुरुविग॥
सग्यार काणे सर्वज्ञ।

कबीर गुरु गोविन्द दोनो खड़े काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय॥"

उत्तर तथा दक्षिण के सतो ने बाह्याडबर का विरोध करते हुए मूर्तिपूजा का विरोध किया तथा अतरआत्मा मे बसे हुए ईश्वर की उपासना करने के लिए कहा। मा० बसवेश्वर ने कहा है कि "आग को देखकर गलने वाली लाख की मूर्ति ईश्वर कैसे बन सकती है। समय पडने पर बेची जाने वाली मूर्ति को मै कैसे ईश्वर कहूँ? निराकार, निर्विकार, निरजन, कूडल सगम देव ही एक मात्र ईश्वर है।' इसी सदर्भ मे सर्वज्ञ का कथन है कि 'क्या वह ईश्वर जो चिकने वालुका कण मे है, वर्णरजित चित्रो मे विराजमान है, अपने मे नही है। वाराणसी जाने का कारण क्या है? तारण पुरुष जब तुझ मे ही है तो बोल, कारण क्या है तेरे इधर-उधर भटकने का? उपरोक्त आशय के समान ही सत कबीर ने अपने एक दोहे मे मूर्तिपूजा का खडन किया।' –

"मन मथुरा दिल द्वारिका काया काशी जाणि
दसवा द्वार देहुरा ता मे ज्योति पिछाणि॥
कबीर दुनिया देहुरे सीस नवावत जाई।
हिरदा भीतरि हरि बसै, तू ताही सो ल्यो लाई॥

इस ससार मे माया का प्रभाव इतना है कि सामान्य लोग उसी मे समा जाते है। पर विरले वे लोग है जो माया के मोह से परे रहकर जीवन का उत्कर्ष साधते है। बसव अपने एक वचन मे कहते है—पिजडे को बलवान समझकर रटने वाले तोते, सदा सर्वदा अमर समझे तू उत्साह से रहा। माया मार्जार जब तुझे मारेगा तो क्या पिजडा तेरी रक्षा करेगा? केवल प्रभु कूडल सगम देव तेरी रक्षा करेगा।" इसी प्रकार सत कबीरदास मायामोह सबधी कहते है—

'माया तजू तजी 'नही जाई ।
फिर फिर माया मोहि लपटाई ।
माया, माता, पिता, अति माया अस्तरी सुता ।
माया मारि करै व्योहार, कहै कबीर मेरे राम आधार ।।

12वीं से लेकर 17वीं शती में धार्मिक संकीर्णता की भावना समाज में फैली हुई थी। साम्प्रदायिकता का खतरा उस समय भी समाज में व्यक्त था । धर्म के नाम पर इन्सान इन्सान को बांटने का षड्यंत्र हो रहा था । उस समय वर्णाश्रम पद्धति का विरोध करते हुए बसवेश्वर ने अपने एक वचन में कहा है 'मालिन्य के बिना पिंड का रहना कठिन है । जल बिंदु का व्यवहार एक ही है । आशा, रोष, हर्ष, विषाद आदि सब मानवों के लिए एक ही हैं । आग में लोहे को जलाने वाला लौहार बना, कपड़ा धोकर धोबी बना, वेद पढ़कर कोई ब्राह्मण बना । क्या कोई कान से उत्पन्न हो सकता है ? इस कारण हे कूडल संगम देव जो लिंगसंग को जानता है वही कुलज है । इसी बात को 'सर्वज्ञ' अपने एक त्रिपदी में कहते है 'क्या जाति विहीन के घर की ज्योति भी हीन है ।' जाति विजाति की बात न कर, जो ईश्वरीय प्रेम का पात्र है वही सच्चा कुलीन है ।

तीनों संतों ने एकेश्वरवाद को स्वीकार करते हुए इस बात को स्पष्ट किया कि ईश्वर एक है । वह कण-कण में समाया है । वह सारी सृष्टि में तुममें मुझमें व्याप्त है । साथ ही साथ तीनों ने बहुईश्वरीय भक्ति का खंडन करते हुए उसे व्यभिचार के समान माना है । समग्र संत मत अद्वैतवादी है । मैं और तू के भेद को मिटाकर ईश्वरीय एकरूपता को पाना ही उनके जीवन का लक्ष्य रहा है ।

संत साहित्य तथा शरण साहित्य में सत्संग को अधिक महत्त्व दिया गया है । सत्संग कारण ही दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है । मा० बसवेश्वरने 12वी शती में (बसवकल्याण) अनुभव मंडप की स्थापना की । वहां पर सभी संत एकत्रित होकर आध्यात्मिक स्तर पर वैचारिक मथन करते थे । कबीर भी काशी नगरी में भोर के समय सत्संग का आयोजन कर कविता गाया करते थे । जनजागृति का महायज्ञ काशी नगरी में शुरू किया था । जब कि उस समय साप्रदायिकता का ज्वार भड़क उठा था । इस प्रकार तीनों संतों में वैचारिक साम्य नजर आता है । जैसे—जाति-भेद विरोध, अहिंसा, मूर्तिपूजा का विरोध, एकेश्वरवादी, गुरु की महिमा, अस्पृश्यता निवारण, सदाचार का महत्त्व, स्वर्ग, नरक, मोक्ष संबंधी उनके विचारों में साम्य दृष्टिगोचर होता है । पर कुछ बातों में वैचारिक भिन्नता भी है । शरण शिव की उपासना करने वाले हैं तो संत कबीर निर्गुणवादी है । शरण जगत को शिवमय मानते हैं तो संत कबीर जगत मिथ्या कहते हैं । शरण साहित्य में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में तथा सामाजिक स्तर पर नारी को महत्वपूर्ण स्थान दिलाया । नारी को पुरुष के समान गौरव प्राप्त हुआ । पर संत (हिन्दी)

साहित्य में स्त्री निदा अधिक है। कबीर तथा तुलसीदास ने स्त्री को सामान्य नही माना।

## निष्कर्ष

हिन्दी तथा कन्नड सत साहित्य का तुलनात्मक दृष्टिकोण से उसके साम्य तथा वैषम्य को देखने के बाद निष्कर्ष रूप से कह सकते है कि बसव, सर्वज्ञ और कबीर इन्होने आध्यात्मिक धरातल पर चितन करते हुए जीवन की सच्चाई को यथार्थ रूप मे प्रस्तुत किया है। भाषा, सप्रदाय, युग भिन्न होते हुए भी उनका आत्मिक चितन एक है। यह बात सच है कि हिन्दी से भी कन्नड साहित्य का इतिहास पुराना है। 12वी शती मे मा० बसवेश्वर ने वचन साहित्य का सृजन करते हुए जीवन के सत्य को सबसे पहले यथार्थ रूप मे प्रस्तुत किया है। उसी विचारधारा को बाद मे कबीर, सर्वज्ञ और आधुनिक युग मे मा० गाधी और कालमार्क्स ने आगे प्रवाहित किया, यह कहना अनुचित नही होगा।

यह सोचना महत्वपूर्ण नही है कि कन्नड शरण साहित्य का प्रभाव हिदी सत साहित्य पर हुआ है या नही। पर यह सच है कि हिन्दी और कन्नड के सतो ने भौतिक जीवन मे रहकर भी उससे मुक्त रहकर साधना करते हुए आत्मिक सौदर्य को ही प्रकट किया है। जडवादी लोग केवल भौतिक सुख को ही महत्व देते हुए असार्थक जीवन जीते है। वे अपनी-अपनी सीमाओ मे बध जाते है। पर सत तथा शरण आत्मिक धरातल पर एक हो जाते है। उनकी जीवनानुभूति एक बन जाती है। आत्मिक चेतना को सीमाओ मे, युगो मे बाध नही सकते। अत मे यह कहना उचित ही होगा कि मा० बसवेश्वर, सर्वज्ञ और कबीर के आत्मा से निकली हुई अमर वाणी सच्चे अर्थों मे, मानवीय एकात्मता का सार्थक रूप है। इस तरह भारतीय सतो की वाणी हमारे राष्ट्र के लिए तथा समग्र मानव जाति के लिए गौरवशाली है।

## सन्दर्भ

1 कन्नड साहित्य का सुबोध इतिहास, डॉ० हल्लीखेडे

# हिन्दी-तेलुगु भाषा और साहित्य

डॉ० टी० मोहनसिंह

तुलनात्मक प्रवृत्ति मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति है। अपनी इसी प्रवृत्ति के ही द्वारा मनुष्य वस्तुओ म अन्तर्निहित अन्तर को तथा उनकी श्रेष्ठता को जान लेता है। ज्ञान की परिपुष्टि एव समृद्धि वस्तुत तुलना के बिना सभव नही है। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा विज्ञान, साहित्य, कला, उद्योग आदि विभिन्न क्षेत्रो का अनुवेक्षण एव मूल्याकन किया जाता है।

## तुलनात्मक अध्ययन की उपादेयता और महत्व

साहित्य के अध्ययन की विभिन्न विधियो मे तुलनात्मक अध्ययन एक है। तुलनात्मक अध्ययन का साहित्यिक आदान-प्रदान के क्षेत्र मे बहुत महत्त्व है। राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय विचारो का निरूपण एव उदात्तीकरण इस विधि द्वारा ही सभव है। साहित्यो के तुलनात्मक अध्ययन के अन्तगत अध्येता तुलनीय साहित्यो की कृतियो, कृतिकारो, विधाओ एव प्रवृत्तियो मे निहित साम्य एव वैषम्य का मूल्याकन प्रस्तुत करता है। तुलनात्मक अध्ययन द्वारा विश्व की विभिन्न भाषाओ के वैविध्य तथा एकता के तत्वो से हम परिचित हो सकते है।

भारत बहुभाषी देश है। भारतीय साहित्य के इतिहास की अवधारणा के निर्माण के लिए तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। सर जेम्स ने कहा है कि तुलना समग्रता को प्रदान करती है—Comparisior bestows perfection"[1] हेनरी जार्ज मानते है कि तुलनात्मक अध्ययन सस्कृति सार प्रदान करता है " It grants essence of our Culata।"[2] रेमाक ने कहा है कि 'तुलनात्मक साहित्य एक राष्ट्र के साहित्य की परिधि के परे दूसरे राष्ट्रो के साहित्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन है तथा यह अध्ययन कला, इतिहास, समाज विज्ञान धर्मशास्त्र आदि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो के आपसी सम्बन्धो का भी अध्ययन है।"[3]

वस्तुत तुलनात्मक साहित्य विविध साहित्यो के पारपरिक सबधो का अध्ययन भी है— "The object of comparative Literature is essentlly the

study of diverse literetures in their relations with one another ।"[4]

मैक्समूलर ने कहा है कि "सभी उच्चतर ज्ञान की प्राप्ति तुलना पर ही आधारित है।"[5]

तुलनात्मक अध्ययन का मूल उद्देश्य एक विस्तृत परिप्रेक्ष्य मे विभिन्न भाषाओ के साहित्यो का अध्ययन है जिससे कि उसका उचित अभिज्ञान या रसास्वादन हो सके तथा उन भाषाओ के साहित्य के बारे मे एव समुचित विचारधारा का विकास हो।

तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्राचीन या आधुनिक का कोई अर्थ ही नही, वस्तुत वहा जो भी तुलनीय है वही तुलनात्मक साहित्य का विषय बन जाता है। विविध भाषा साहित्यो की तुलना करने से प्राप्त समानताओ के अनुसन्धान से भारत की सास्कृतिक, साहित्यिक एव भावात्मक एकता का स्पष्टीकरण हो जाता है। सन् 1935 के आस-पास भारतीय भाषाओं के साहित्य से सबद्ध शोधकार्य मे तुलनात्मक पद्धति की ओर भारतीय विद्वानो का ध्यान आकर्षित हुआ। तब से विभिन्न विश्वविद्यालया मे हिन्दी को आधार मे रखकर भारतीय भाषाओ के साहित्या का तुलनात्मक अनुसन्धान एव अध्ययन किया जा रहा है ताकि भाषाओ के वैविध्य एव एकता के तत्वो का उद्घाटन यथार्थ ढग से हो सके।

'अविभक्त विभक्तेषु' के सिद्धान्त वाक्य को लेकर अनेकता मे एकता को खोजने का कार्य तुलनात्मक अध्ययन द्वारा किया जाता है। बाहर मे विभक्त अथवा पृथक्-पृथक दिखाई पड़ने वाले भारतीय भाषाओ के साहित्य मे जो समानताए है उन्ही का रेखाकन तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सभव है।

## तुलनात्मक शोध का स्वरूप

हिन्दी मे स्थूल रूप मे भाषा एव साहित्य के क्षेत्र मे जो अनुसधान कार्य हो रहा है उसमे निम्न पद्धतिया अपनाई जा रही है--

1 तुलनात्मक पद्धति
2 सर्वेक्षण पद्धति
3 आलोचनात्मक अध्ययन पद्धति
4 समस्यामूलक पद्धति
5 वर्गीय अध्ययन पद्धति
6 क्षेत्रीय अध्ययन पद्धति
7. अनुगम पद्धति
8 निगमन पद्धति

शोध का अर्थ है परिष्करण, प्रमाणीकरण, दोषनिवारण, सदेह निवारण[6] खोज, अनुशीलन आदि शब्द इसी अर्थ की आशिक अभिव्यक्ति करते हैं। कोई भी

साहित्यिक सत्य जब परिष्कृत, प्रमाणित, सदेह-रहित और तथ्यपूर्ण होकर सामने आता है, तब वह शोध का परिणाम बनता है। शोध वस्तुतः सन्देहहीन और विशुद्ध साहित्योपलब्धि तक पहुंचने वाली प्रक्रिया का नाम है।"[7]

आचार्य सुन्दर रेड्डी जी के अनुसार—"तुलनात्मक अध्ययन मानव के सीमित ज्ञान क्षेत्र का विस्तार करता है। देश की एकता एव राष्ट्रीय जीवन की एकता के लिए विभिन्न भारतीय भाषाओ एव साहित्यो का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है।"[8]

"तुलनात्मक अध्ययन का लक्ष्य आलोचना एव अनुसधान मे भी अधिक महत्व-पूर्ण है। तुलनात्मक अध्ययन मानव के सीमित ज्ञानक्षेत्र को विस्तृत करता है और उसके भाषागत, साहित्यिक एव प्रादेशिक बधनो को ज्ञानार्जन मे बाधा नही डालने देता।"[9]

विभिन्न भाषाओ तथा साहित्यो की विशेषताओ मे से साहित्यगत एकरूपता या समानता का निरूपण करना तुलनात्मक शोध का मुख्य उद्देश्य है। तुलनात्मक अनुसधान के द्वारा मानव जाति के हृदय एव मस्तिष्क मे परिलक्षित भाव साम्य का समुदघाटन एव विश्व साहित्य के द्वारा विश्व मानवता की एकता का निरूपण किया जाता है। तुलनात्मक शोध मे अध्ययन को व्यापक परिप्रेक्ष्य मिलता है। तुलनात्मक शोध द्वारा विभिन्न साहित्यो की समानताओ एव भिन्नताओ का विवे-चन करके इनके कारणो का अन्वेषण किया जाता है, विश्व मानव एव विश्व मानवतावाद का पुनः मुदर्शन किया जाता है।

तुलनात्मक अनुसधान के अन्तर्गत -एक ही साहित्य के दो युगो, काव्य प्रवृत्तियो या दो लेखकों की तुलना, एक साहित्य का दूसरे साहित्य पर प्रभाव आदि की तुलना तथा दो साहित्यो के दो कवियो, लेखकों, कृतियो, प्रवृत्तियो आदि की तुलना की जाती है।

तुलनात्मक शोध के अन्तर्गत विषय के सर्वागीण अध्ययन तथा निरीक्षण एव परीक्षण के सन्दर्भ में अनुसधानकर्ता को निम्नलिखित तत्वो के प्रति ध्यान देना नितात आवश्यक है ताकि प्रस्तुत विषय और तुलनीय विषय के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो जाय, वे तत्व है—

1. समता
2. अभेद
3. साम्य
4. विषमता

तुलनात्मक शोध अध्येता की योग्यता के विकास का अवसर प्रदान करता है।

वह दो साहित्यो से जुडी हुई समस्याओ का विश्लेषण करता है। तुलनात्मक पद्धति से अन्वेषक की दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर अतल गहराई मे स्थित काव्य की अन्तरात्मा का स्पर्श कर लेती है। इतना ही नही, किसी विषय की एकागी अध्ययन की अपेक्षा तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञान की अनन्त वृद्धि भी होती है।"10

## तुलनात्मक शोधार्थी के गुण

साहित्य के शोधार्थी के लिए आवश्यक सभी गुणो के साथ-साथ तुलनात्मक शोधार्थी मे कुछ विशेष गुणो की आवश्यकता होती ह, यथा —

1 स्वाभाविक अभिरुचि और उत्सुकता
2 अनिवार्य तटस्थता एव ईमानदारी
3 बौद्धिक प्रामाणिकता
4 मस्तिष्क की बहुमुखी गति
5 तुलनीय भाषाओ तथा साहित्यो का पूर्ण ज्ञान
6 तुलनात्मक अध्ययन की पविधि का ज्ञान
7 योग्य निर्देशक को चनने की शक्ति
8 विषय की मौलिकता, उपयुक्तता एव सभाव्यता का ज्ञान
9 सामग्री सकलन एव विषय प्रतिपादन की क्षमता
10 तुलनीय भाषा समुदायो के इतिहास एव संस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे सामग्री की व्याख्या एव विश्लेषण करने की क्षमता
11 तथ्यो और उपलब्धियो की उच्चतर आलोचना एव मूल्याकन की योग्यता
12 पूर्वाग्रह एव पक्षपात मुक्त हो प्रादेशिक साहित्यो के अन्तर्गत बिखरी हुई भारत की सास्कृतिक एकता के अन्वेषण की प्रवृत्ति

## तुलनात्मक शोध की प्रविधि

तुलनात्मक अध्ययन को प्रविधि पहले आलोचना के क्षेत्र मे चलती थी। गत 40-50 वर्षों से वह शोध क्षेत्र मे आई है अत कहा जा सकता है कि तुलनात्मक अध्ययन का एक पैर शोध के क्षेत्र मे रहता है, दूसरा आलोचना के। किन्तु यहा इस तथ्य को नही भूलना चाहिए कि वस्तुत शोध प्रक्रिया एव प्रविधि ही अनुसधान नही है। फिर भी शोध की प्रविधि से अनभिज्ञ शोधार्थी अपने कार्य को सुचारु रूप से नही कर पाता। तुलनात्मक अनुसधान सामान्य शोध की अपेक्षा कठिन है अत इस सन्दर्भ मे शोधार्थी को चाहिए कि वह निम्नलिखित बातो की ओर ध्यान दे—

1. तुलनीय अंश का निर्वाचन
2. सीमा निर्धारण एवं सामग्री संकलन
3. छानबीन या विश्लेषण तथा वर्गीकरण
4. त्याग और ग्रहण
5. अनुसन्धान में प्राप्त सत्यों की स्थापना
6. संयोजन और निर्णय
7. वैज्ञानिक रूपरेखा एवं प्रस्तुतीकरण
8. विषय प्रतिपादन के सन्दर्भ में भारत की अनेक रूपात्मक विराट संस्कृति की मूलभूत एकता का अन्वेषण एवं पुनःस्थापना
9. समकालीन, पूर्ववर्ती एवं परवर्ती लेखकों के ग्रंथों का अध्ययन
10. परीक्षण एवं मूल्यांकन
11. तुलनात्मक विश्लेषण

तुलनात्मक शोध के सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि शोधार्थी उस कार्य को करने के लिए उपयुक्त है या नहीं। वह तुलनीय भाषाओं तथा उनके साहित्यों का पूर्ण ज्ञाता है या नहीं ? शोध निर्देशक वस्तुतः दो भाषाओं का आधिकारिक विद्वान् है या नहीं ? अन्यथा तुलनात्मक शोध-प्रबन्धों के स्तर में गिरावट आयेगी। अनुवाद तथा भाषा-शैली सम्बन्धी समस्याएं शोधकार्य में बाधक सिद्ध होंगी।

## तुलनात्मक अनुसन्धान की क्षेत्र परिधि : हिन्दी और तेलुगु के सन्दर्भ में

हिन्दी भारत की राजभाषा है। यह हमारी सम्पर्क भाषा भी है। राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं प्रादेशिक भाषाओं के विकास के लिए साहित्यिक आदान-प्रदान एवं तुलनात्मक अध्ययन की महती आवश्यकता है। भारत की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक एकता के तत्त्वों को प्रकाशित करने का कार्य तुलनात्मक अध्ययनों द्वारा ही सम्भव है।

तेलुगु आन्ध्र प्रदेश की राजभाषा है। जनसंख्या की दृष्टि से भारतीय भाषाओं में हिन्दी के बाद का स्थान तेलुगु को ही प्राप्त है। प्रान्तीय भाषाओं के साथ राजभाषा का तालमेल आज की एक महत्वपूर्ण भाषा समस्या है। दोनों भाषाओं के पाठकों को निकट लाना वस्तुतः तुलनात्मक अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य है। इस सन्दर्भ में आन्ध्रप्रदेश के भाषा-प्रेमियों, मनीषियों, शोधार्थियों ने अब तक काफी योगदान दिया है। अतः हिन्दी और तेलुगु के क्षेत्र में जो तुलनात्मक शोध-कार्य हुआ है उसके मूल्यांकन के लिए दोनों भाषाओं के साहित्यों की तुलनात्मक

क्षेत्र परिधि की चर्चा आवश्यक है—

1. साहित्यों की तुलना
2. साहित्यकारों की तुलना
3. विशिष्ट कृतियो की तुलना
4. साहित्यिक प्रवृत्तियों की तुलना
5. परम्परा विवेचन
6. प्रभाव सूत्रो की खोज
7. विभिन्न वादों, सिद्धान्तो एवं आन्दोलनों की तुलना
8. साहित्यिक विधाओं की तुलना
9. सर्जन के मूल प्रेरणा स्रोतों, विशिष्ट जीवन दृष्टियों, जीवनमूल्यों व सिद्धान्तो की तुलना
10 काव्यरूपो की तुलना
11. काव्यशास्त्र के तत्त्वों अथवा उन तत्त्वो की दृष्टि से कृति, कृतित्व अथवा कृतिकारों की तुलना
12. वर्ण विषय, भाव, रस, प्रतीक, बिम्ब, छन्द, भाषा आदि उपकरणों की दृष्टि से कृतियो या कृतित्व की तुलना
13. विभिन्न प्रान्तों के लोक साहित्य की तुलना
14. सांस्कृतिक अध्ययन
15. समाजशास्त्रीय अध्ययन
16. मनोवैज्ञानिक अध्ययन
17. साहित्य के पात्रो, घटना-व्यापारों एवं चरित्रांकन की तुलना
18. शिल्प व रचना शैलियो की तुलना
19. आलोचना के मूल्यो, मानों, पद्धतियों, सिद्धान्तों की तुलना
20 व्याकरण एवं भाषा-विज्ञान सम्बन्धी तुलना
21. अनुवाद की समस्याओं की तुलना

सन्दर्भ

1. Research and Search, p. 1
2. Rescarch Methodology
3. तुलनात्मक साहित्य की भूमिका : इन्द्रनाथ चौधुरी, पृ० 5
4. वही, पृ० 9

5 तुलनात्मक अनुसधान और उसकी समस्याए स० डा० सरगु कृष्णमूर्ति, पृ० 84

6 अनुसधान का विवेचन डा० उदयभानु सिह, पृ० 12

7 साहित्य शोध के सिद्धान्त और समस्याए स० डा० रामगोपाल शर्मा दिनेश, पृ० 33

8 द्रष्टव्य—तुलनात्मक अनुसधान एव उसकी समस्याए, पृ० 102

9 हिन्दी और तेलुगु के प्रतिनिधि कवियो का तुलनात्मक अध्ययन डा० को० शिवसत्यनारायण, पृ० ग-घ

10 उद्धरित तुलनात्मक अनुसधान और आलोचना डा० के० रामनाथन, पृ० 10

के सुदूर क्षितिजों को चूम लेता है।"[1]

स्वीकृत शोध प्रबन्धो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभी कुछ ऐसी विशेष दिशाए हैं जिन पर तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है, यथा—

1 व्याकरण एवं भाषा विज्ञान से सम्बन्धित विषय
2 समाजशास्त्रीय अध्ययन
3 मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन
4 लोक साहित्य का विस्तृत अध्ययन
5 शैली तात्विक अध्ययन
6 सौन्दर्यबोधात्मक अध्ययन
7 काव्य शास्त्र के विभिन्न पक्षो से सम्बन्धित अध्ययन
8 सास्कृतिक देशातरण का अध्ययन
9 विभिन्न शिल्पविधियो का अध्ययन
10 समस्यामूलक अध्ययन
11. अनुवाद की व्यावहारिक समस्याए
12 सादृश्य सम्बन्ध परम्परा एव प्रभाव सूत्रों का अध्ययन

उपर्युक्त अध्ययन के द्वारा तुलनात्मक साहित्यिक इतिहास का निर्माण तथा भारतीय साहित्य के इतिहास की सकल्पना का कार्य सभव हो पायेगा। हिन्दी शोध कार्य का द्रुतगामी प्रसार जहा प्रगति का परिचायक है वही स्तर की गिरावट एव विषयो की पुनरावृत्ति चिन्ता का विषय है। यहा इस तथ्य को स्वीकार करना समीचीन होगा कि आज हमे परिमाणात्मक विकास की आवश्यकता नही है, गुणात्मक विकास की ही अपेक्षा है।

## निष्कर्ष

हिन्दी और तेलुगु तुलनात्मक अध्ययन से दोनो भाषाओ एव साहित्यो मे नयी चेतना का सूत्रपात होता है और अपनी सीमाओ का बोध होता है। तुलनात्मक शोध द्वारा भारतीय जनमानस को अधिकाधिक समझा जा सकता है तथा समृद्ध किया जा सकता है।

भारतवर्ष सामासिक सस्कृति का देश है। तुलनात्मक अध्ययन द्वारा अनेक प्रकार की विघटनशील प्रवृत्तियो को दूर कर हमारी मूलभूत एकता की पुनः स्थापना का प्रयास किया जाता है। वर्तमान अशातिपूर्ण वातावरण में अपरिचय-जनित आशकाओ का निराकरण कर एक भारतीय आत्मा को सुप्रतिष्ठित करने का उदात्त कार्य तुलनात्मक अनुसधाता करता है। प्रादेशिक भाषाओ में विद्यमान सस्कृति, साहित्य एव शब्द सम्पदा के उत्तमोत्तम से राष्ट्रभाषा हिन्दी को विभूषित करने तथा समृद्ध करने का कार्य तुलनात्मक अध्ययन द्वारा संभव है।

समस्त क्षेत्रीय भाषाए भारतीय जनजीवन के विभिन्न रूपो एवं गुणो का प्रतिनिधित्व करती है, अतः उन भाषाओ के साहित्यो के साथ हिन्दी भाषा एव साहित्य के विभिन्न पक्षो की तुलना भारतीय साहित्य की परिकल्पना का प्रथम सोपान है।

डा० रवीन्द्र कुमार जैन ने तुलनात्मक शोध की उपादेयता की चर्चा करते हुए सच ही कहा है कि "विभिन्न साहित्यो के विविध रूपो में व्यक्त मानव चेतना की अखण्डता, विराटता एव जिजीविषा को तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।" अत कहा जा सकता है कि हिन्दी तेलुगु के क्षेत्र मे हो रहा तुलनात्मक अध्ययन इसी भावना का प्रतीक है।

**सन्दर्भ**

1. तुलनात्मक अनुसन्धान एव उसकी समस्याए, पृ० 11-12
2. वही, पृ० 34

# केवट तथा मल्लाहों के लोकगीत

चारुदत्ता चौगुले

केवट और मल्लाह वैसे समानार्थी शब्द है। दोनो का अर्थ नाविक या नाव खेनेवाला होता है। हम इन दोनो शब्दो को धारण करने वाली जाति को एक ही समझते है किन्तु ये लोग अपने आपको एक नही समझते। एक जाति अपने आपको केवट कहती है और दूसरी अपने को मल्लाह कहती है। दोनो का (नाव खेने का) काम ही एक नही भाषा, रहन-सहन, संस्कार, रीति-रिवाज, स्वभावगत प्रवृत्तिया आदि सभी एक-सी हैं। फिर भी इनमे कुछ सूक्ष्म भेद है। वह भेद कही-कही इनके गीतो मे झलकता है। अगर केवट को मल्लाह कह दो तो वह आपकी जान का दुश्मन बन जाय और मल्लाहो को केवट कहो तो वह आगबबूला हो जाय, मानो उसे किसी ने गाली दे दी हो। ये आपस मे दूसरे को अपने से हलका और अपने आपको दूसरे से श्रेष्ठ समझते है। एक ही अर्थ वाले दो शब्द धारण करने वालो मे यह भेद कैसे आया, किस दौर मे आया, समझ मे नही आता। वैसे रामायण के पहले भी 'कैवर्त' जाति का उल्लेख है। ये कैवर्त नाविक हुआ करते थे, कैवर्त का ही बदला हुआ रूप केवट या खेवट है। 'रामायण' काण्ड मे इसी केवट ने राम को गंगापार कराया था जिस प्रसंग का वर्णन बड़े सरस रूप मे तुलसीकृत रामायण मे आता है।

स्वाभाविक ही है कि जिस आदमी ने राम को पार उतारने का काम किया होगा उसके सभी भाई-बन्द बड़े गौरव और अभिमान के साथ यह बात बताते होगे कि हमने तो प्रत्यक्ष प्रभु राम को नदी पार कराया। इस कारण हो सकता है वे अपने आपको अन्य कुलो के नाविको मे श्रेष्ठ बताने लगे हो, स्वयं को केवट और बाकी को मल्लाह कहने लगे हो, मानने लगे हो कि वे तो साधारण नाविक है, असली तो हम राम को पार लगाने वाले केवट ही है बाकी मल्लाहो से श्रेष्ठ है।

एक सम्भावना यह भी बनती है कि जिनके पास बड़ी और महगी नावे होगी, वे, जिनके पास छोटी या सस्ती नावे होगी उनसे अपने आपको श्रेष्ठ समझते होगे।

जो भी कारण रहा हो, दोनो जातियो मे आपस मे ऊच-नीच का भेद आ गया है—जो अब इनकी संस्कृति का भी अंग बन गया है।

ये जन जातिया वैसे मूलत: उत्तरी भारत (राजस्थान, मध्यप्रदेश) आदि जगहो से है, किन्तु मुझे इनका अध्ययन करने तथा इनका साहित्य पाने उत्तरी भारत मे नही जाना पड़ा। ये लोग मुझे इसी मराठवाड़ा की धरती पर जगलो, नदियो के किनारो पर बसे मिले। यह सुनकर आपको शायद ताज्जुब होगा कि ये हिन्दीभाषी लोग हमारे मराठवाड़ा मे भी है। मैने इन लोगो मे भेट की। उनका साहित्य पढ़ा तथा बाते सुनी, उससे तो कई आश्चर्यजनक तथ्य मेरे सामने आये।

जैसे ये लोग मूलत कौन है कहा के है और यहा कब आये इसके उत्तर मे दो तरह की बात सामने आयी। इन जातियो का यह कहना है कि हम राजपूत है, लड़ाई करते थे। बरसात मे लड़ाई नही होती थी तो सेना मे भरती कम कर दी जाती थी। बरसात मे नदी मे पानी भरा होता था, तो हम लोग नाव चलाने का काम किया करते थे।

नाव चलाना इनकी आजीविका का दोयम साधन था और सैनिक होना प्रथम। ये लोग मूलत कहा के है? इस प्रश्न के उत्तर मे मल्लाहो ने दृढ़तापूर्वक कहा कि, 'हम गोरमगढ़ के है।' और गोरमगढ़ राजस्थान मे पड़ता है। केवटो के पास इसका कोई प्रमाण उत्तर नही है कि वे कहा के है, किन्तु उनके गीतो मे जयपुर शहर का बार-बार उल्लेख आता है। राजस्थानी शब्दो का भी प्रचुर मात्रा मे प्रयोग मिलता है। इस तरह सिद्ध होता है कि राजस्थान के ही है और जयपुर के इर्द-गिर्द मे आये है।

ये लोग मराठवाड़ा मे कैसे आये इस प्रश्न के उत्तर मे दो-तीन तर्क सामने आते है। हो सकता है कि यह सब एक बार न आकर समय-समय पर कारणानुसार आते गये हो। जैसे दिल्ली से दौलताबाद मुहम्मद तुगलक ने अपनी राजधानी बदली। तब उसकी सेना मे आये हुए कुछ सैनिक लौटकर नही जा सके और वही बस गये। कुछ राजा जसवतसिंह की सेना मे आये, जिनका पड़ाव इसी औरगाबाद शहर मे सुनहरी महल नामक जगह पर पड़ा था, जहा आज विद्यापीठ की इमारत विद्यमान है। उनमे से कुछ लोग इसी विश्वविद्यालय मे सेवक के पद पर नियुक्त है। कुछ बायजाबाई की टुकड़ी मे आये थे, जो चबल की रानी थी और औरगजेब से जूझने शिवाजी महाराज के सकेत पर दक्षिण मे आयी थी। इस प्रकार इन लोगो के मराठवाड़ा की धरती पर समय-समय पर आते रहने का इतिहास गवाह है। यहा आने पर इन्हे पेट पालने का कोई साधन नसीब न हुआ। इनके पास न खेत थे, न गाव घर। सो ये नदी किनारे रहने और शिकार करके अपना पेट पालने लग गये। नदी से सम्बन्धित कुछ और उद्योग भी इन्होने शुरू किये, जैसे खरबूज की बेल लगाना, सन निकालना, कातना आदि। मल्लाहो ने भाजी का व्यापार भी शुरू किया और ये लोग अपने मूल स्थान को भूलकर यहा मराठवाड़ा के कोने मे पड़े जैसे तैसे जीते रहे है। दुनिया इनसे बेखबर है और ये दुनिया से बेखबर है, किन्तु

एक काम इन लोगो ने अच्छा किया कि इन्होंने अपने रीति-रिवाज, भाषा और संस्कृति को आज भी नही छोडा है । पढाई-लिखाई से तो ये अब भी कोसो दूर है। शहरी सभ्यता इन्हे छू भी नही पायी हे । इन जातियो ने अपने सस्कारो के साथ अपने गीतो को भी याद रखा है । शादी-ब्याह मे ये अब भी वही गीत गाते है, जो उनकी प्राचीनतम् धरोहर है । मै जब अपने शोध कार्य के दौरान इनके पास पहुची तो मुझे स्वय कल्पना नही थी कि इतना बडा खजाना मेरे हाथ लगनेवाला है । यह तो और भी अच्छा हुआ कि समय रहते मैंने इस खजाने को पा लिया, क्योंकि इन गीतो को गानेवाले पुराने बूढे लोग अब कम रह गये है । नयी पीढी पर तो फिल्मो ने अपना प्रभाव जमा लिया है । कुछ साल के बाद तो शायद यह कीमती जवाहरात मिट्टी मे मिल गये होते ।

आश्चर्य की बात तो यह है कि इन दोना एक सी लगने वाली जातियो तथा भाषाओ मे पाये जाने वाले गीतो मे जिस तरह भरपूर साम्य है, वैसे सूक्ष्म भेद भी है । इसलिए इनमे तुलना हो सकती है । हम जब तक बाहर से देखकर केवट और मल्लाहो के लोक गीत कहते है तब तक यह एक-सा ही लगता है, किन्तु वास्तव मे ये दोनो भिन्न है । जो उसके बीच जाता और इनसे निकटता स्थापित करता है उसकी समझ मे यह भेद आने लगता है ।

इस तुलना को हम देखे तो जन्म के जो गीत इनमे प्रचलित है उनके नामो मे भी यह भेद लक्षित होता है । केवट के यहा इन्हे **छठी के गीत** कहा जाता है, तो मल्लाहो के यहा इन्हे **बिरवार** कहते है । वैसे मल्लाह **बधावा** भी कहते है । और केवट **सोहरगाना** भी कहते है । जन्म के ये गीत दोनो के यहा कई प्रकार के है, जैसे—लड़की के पाव भारी होने के गीत उसकी इच्छा पूछे जाने के गीत, प्रसव-पीडा के गीत, शिशु जन्म के गीत, जन्म के बाद बधाई के गीत, नामकरण के गीत, आसरा, कुआ या जल पूजने के गीत, वधू के पहली बार गर्भवती होने की खुशी का गीत, केवटो के यहा इस तरह गाया जाता है ।

कुवर ने से फूलो की बास लगी है मरवना
चदने डौना, हरहरीया मे डौना
कुवर ने रो पहलो मास लगो है मरवना
चदने डौना हरि हरीया से डौना

इस प्रकार नौ माग पूरे होने तक गाने के बाद जब वधू को पुत्र होता है तो आश्चर्य की बात है कि इस समाज मे उसे कुए मे फेक देने की बात होती है। क्योंकि बेटी होती तो उसे चट ब्याह दिया जाता किन्तु बेटे के लिए वधू कहा से लाये ? लगता है किसी समय समाजशास्त्र की दृष्टि से इस समाज मे बेटियो की बहुत कमी रही होगी । बेटी का नेग (दाम या दहेज) लेने की प्रथा इस समाज मे शायद इसी से प्रचलित हुई है ।

मल्लाहों के यहां इसी प्रकार नो मास पूरे होने का वर्णन करने वाला गीत और भी प्यारा है। और शरीर शास्त्र की दृष्टि से तो शास्त्रोक्त भी है। शरीर-शास्त्र कहता है, एक बार गर्भ धारण हो जाए तो इसके पश्चात् पति-पत्नी का काम-सम्बन्ध नही होना चाहिए। उन्हें एक-दूसरे से दूर रहना चाहिए, नहीं तो गर्भ को धक्का लगने से गर्भपात की सम्भावना बढ जाती है। यह आधुनिक शास्त्रीय बोध इस आदिम जाति को भी है। यह निम्नलिखित गीत में परिलक्षित होता है।

पहिलो महिना जब यो लागियो रे
राम ने बाधीया मूट
ननद बाई पिया भगाई देव दसा क
री देसा के मोरी जान ननदबाई
पिया भगाई देव देसा के

भाभी द्वारा अपनी ननद से कहा जा रहा है कि तुम अपने भाई को कही दूर देश भेज दो क्योंकि राम ने गाठ बाध दी है अर्थात् मै अब गर्भवती हो गयी हू। मल्लाह स्त्री अपने पति को दूर रखने की बात करती है। इसके ठीक विपरीत भाव है केवट स्त्री का। वह तो प्रसव-पीडा से व्यथित होकर पहले अपने पिया को बुलाने को कहती है

सास बुलाव पिया जल्दी से बुलाव जल्दी से
अंगिया भीज रही गर्मी से
घर में घर में घर म मर गयी सर्दी में

प्रसव से मरने की बात मल्लाह स्त्री भी करती है, किन्तु उसका अन्दाज अलग है :

इत्ती भारी की पुनऊगा ह तो काहे को होना
अब नही भरोसा जीने का
भर लाओनो कटोरा ठण्डे पानी का।

प्रसव की दशा के गीत तो दोनो ओर गाये जाते हैं। किन्तु एक ही घटना को केवट स्त्री किस प्रकार अभिव्यक्त करती है और मल्लाह स्त्री कैसे - यह देखने योग्य है। केवट स्त्री प्रसव की असह्य पीडा मे यह सोचकर कि वह अब नही जियेगी अपने सारे रिश्तेदारो को बुलाकर अपनी चीजें, गहने और कपड़े उन्हें बांट देती है, किन्तु जब उसे बेटा हो जाता है तो जिसको जो भी बाटा था उससे वह सब वापस ले लेती है। क्योंकि अब तो उसका उत्तराधिकारी आ गया है :

ब कमर में निकली पीर
अब मै मर जाऊगी
मेरे ननद को बुलाय जल्दी स
हसली दे देऊगी

मेरे देवर को बुलाव जल्दी मे
कोठी दे देवूगी
अब हुओ जी नन्दलाल
अब मै जिन लेऊंगी
ननद को बुलाव जल्दी से
हंमलि ले लेवूगी

यहां पहले तो वह पीडा मे और मृत्यु के आतंक से उदार, दानी बन गयी है, किन्तु पीडा खत्म होते ही, और बेटे को पाते ही दुनियादार और कजूस हो जाती है। इसके ठीक विपरीत मल्लाह स्त्री मारे दर्द के मरी जा रही है। लेकिन किसी के मांगने पर भी कुछ भी देने को तैयार नही है। कहा तो केवट स्त्री बुला-बुलाकर बाट रही है और कहां यह मल्लाहन मागने मे भी नहो देती :

नाग आगे पनिया तपाये मांग अपने नेग
नेग जोख कुछ ना मागो पिया गये परदेम
चाबी रह गयी री कमरिया कैसे पकड़ी
दायी आय नाल कटाये मागे अपना नेग
नेग जोख कुछ ना मागो पिया गये परदग

यहा कमरिया शब्द का दुहरा प्रयोग बडी मौलिकता मे किया गया है ! पिया परदम गय उनके कमरे से लग तिजोरी की चाबी भी साथ चली गयी सो अब मुझसे पैसे मत मागो ! और दूसरे अर्थ में हाय राम ! मेरी कमर कैसे दर्द ने पकड़ी है। इस पर पिया भी घर नहीं, तम लोग मुझे पैसे माग कर तग मत करो। यहां एक ही स्त्री-प्रकृति के दो भिन्न रूपों के दर्शन होते है।

गर्भवती से उसकी इच्छा पूछने के प्रसग के गीत दोनो ओर है, किन्तु वहां भी सस्कारगत अन्तर है। जैसे केवटो के यहां गर्भवती अपनी इच्छा बताती है तो उसमें उसका निसर्ग प्रेम आर उच्च अभिरुचि झलकती है :

सखी तोरो मन काहे पे होये दे जारो दे
सखी मोरो मन बाग पे होये दे जारो दे
सखी हिलमिल बागो मे जाये दे जारो द
सखी तोरो मन काहे पे होये दे जारो दे
सखी मोरो मन आय पे होये दे जारो दे

इसकी तुलना मे मल्लाह स्त्री की अभिरुचि कुछ सस्ती जान पड़ती है। जैसे :

हरि हरियाले डौना
तोरे काहे पे मन होये मरवना
मोरो काले पे मन होये मरवना
हरि हरियाले डौना

मरवना और हरि हरियाल, डौना याने गर्भवती और उसकी हरी भरी इच्छा से जिसे यहां मराठी में डाहोके कहते है।

सारी पीड़ा को झेलकर जब शिशु का जन्म होता है, तो उसमे होनेवाला आनन्द दोनों तरफ एक-सा ही है। मल्लाह स्त्री उसे यूं प्रकट करती है :

धन्ना धन्ना जसोदा के लाल गोपाल लाल भुई मे पड़े
जाके कहो जी अपने ससरा बड़े मे
चूँड़ियां दे देव दान, गोपाल लाल भुई मे पड़े।

यहां की स्त्री का मा के पेट से निकलकर बच्चे के भूमि पर आने का आनन्द है, किन्तु साथ में इस खुशी के मौके पर कुछ पाने की इच्छा भी जगती है। केवट स्त्री को केवल आनन्द पाने में ही आनन्द है। कुछ और पाने की चाह उसमें नही। वह तो केवल खुशी में झूमना चाहती है।

भगतसिंह भाई के सिर पर इतनो भी राज
आनन्द घड़ी घड़ी री माई आज
सगुन घडी घडी री माई आज
घर पीछे राधा खडी खड़ी री माई आज

या—

उठो हीरालाल गुड बांटो
घर नतिया भये नन्दलाल
जाई न के माला तुम पहनो
चाफन के माला तुम पहनो

स्वयं कुछ न चाहकर वह इस खुशी में उनको जाई चाफा को माला पिन्हाना चाहती है, तो मल्लाह स्त्री शिशु के जन्म मे उस घर में जो खुशी हुई है उसका वर्णन कुछ यू करती है :

बाहर ससराजी खुले बाजा बजा के
घर में सास जी खुली ललन खिला के
घर आज नौबद बाजे दशरथ राय के
बाहर जेठजी खुले शकरपान बटाय के
घर में जेठानी खुली हरिला बनाय के

अब जब शिशु का जन्म हो गया है और वधू उसे दूध पिलाकर उसका भरण-पोषण करने वाली दूधी मां हो गयी है, तो दोनो जातियों में उसका बड़ा खयाल रखा जाता है ! उसको अच्छा खिलाया-पिलाया जाता है। इस सेवाभाव से मल्लाह-वधू इनकार नही करती, किन्तु केवट-वधू बड़े नखरे दिखाती है ? जैसे मल्लाहों के यहां वधू को आभूषणों का आकर्षण दिखला कर कहा जाता है :

दूजी सुतीया घडानू वहे फामे जडाना दूधी मैना
आडे मे रहना दूधी मैना, दूधा री से रहना दूधी मैना

हे दूध पिलाती मा ! हम तेरे लिए और दूसरी सुतिया घडायेगे। भले ही तेरे पास एक है, फिर भी हम और दूसरी बना देगे। तू केवल दुपहरी से सावधान रहना। घर मे ही रहना ! उसी के सामने न पडना, क्योकि तू दूध पिलाती मा है तुझ पर किसी की बुरी नजर पड सकती है। यहा मल्लाह-वधू कोई विरोध करती नही दिखती, किन्तु केवट-वधू तो दूध आने के लिए पथ्य की जो गरम चीजे नव प्रसवा को खिलायी-पिलायी जाती है, उनको सेवन करने से साफ इनकार करती है। तो सास ससुर उसकी बडी मिन्नत करते है।

सास कहे बहू जिरो पी, बहू जिरा पी
नतिया के दूध आय बहू जिरो पी

इस पर वधू तुनककर नापसन्दी मे मना कर देती है

साल मसाले को जिरो कोया पिय
जिरा काया पिय ?

तो सास बडी नम्र पडकर मिन्नतवारी से कहती है

नादान कुम्हलाय सुहागिन जिरो पी

तेरा छोटा सा लाल बिना दूध के कुम्हला जायगा, सुहागन इसे पी ले ! अब तो सास, ससुर, पति सबके सब उस शिशु की मा का बहुत ही खयाल रखने लगे है। पहले तो जब तक बच्चा नही था यह लोग बात भी नही पूछते थे ! इस बात का बदला एक गीत मे गिन गिन कर केवट-वधू लेती है !

जब कैसे राजा पिया फटा गाभ्रडिया ना देवा
अब कैसे रजैया धर आइया ऐ ज्यू अब वैस

इस पर लाचार-सा पति कहता है

जाने दे री धना पिछल री बात
बहि गया बह जाने दे
जब कैसे राजा पिया सुवे कागा ना देवो
अब कसो मिलीदा भर आईगा राज्यू

इस प्रकार हर बात पर वह आडे हाथो लेती है। और पति बेचारा 'जाने दे पुरानी बाते भूल जा' वगैरह ही कहता रह जाता है। तो मल्लाह स्त्री एकदम मिस्कील है। वह पुरानी बातो का बदला सिर्फ बोलकर नही, व्यवहार मे चुका लेना चाहती है। जब तो उसे बहुत सेवा-टहल करनी पडती थी, किन्तु अब तो घर मे उसकी सेवा हो रही है। तो यहा की नवोढा वधू अपने पति से खूब काम कराकर उसे खूब नचा रही है। और मन-ही मन सुख पा रही है कि मुझसे कैसी कसरत करवाते थे ! अब लो भुगतो। वह जान-बूझकर एक-एक काम पति के पीछे

लगाती है जैसे

गरमी हो गरमी हो रही मेरे लाल
पखा ही पखा झलावो मेरे लाल

जब वह पखा झलने लगता है तो यह कहती है

सर्दी ही सर्दी हो रही मेरे लाल
रजैया ही रजैया ओढ़ाओ मेरे लाल

और आगे कहती है

अगही जग पिराय मोरे लाल
पाय ही पाव दबाओ मोरे लाल

इस प्रकार यह तो केवल इन जातियों के गीतों के चन्द नमूने थे। इस तरह से तुलना करनी हो तो इन दोनों के यहाँ होने वाले विवाह के गीत, सावन के गीत, होली के गीत, नवरात्रि के गीत, भजन के गीत और अन्य भी अनेक ऐसे गीत है जिनकी तुलना करना एक निबन्ध का नहीं एक प्रबन्ध का विषय होगा।

## तृतीय खण्ड

# अन्य विषय

# महाराष्ट्र के कृषि और औद्योगिक विकास का असंतुलन

डॉ० जी० एस० कल्याणकर
(अनुवादक प्रतिभा धारासुरकर)

आजकल आर्थिक विकास किया जाना जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही, बल्कि उससे भी ज्यादा, महत्व सन्तुलित आर्थिक विकास को दिया जा रहा है। आर्थिक विकास होने की प्रक्रिया मे प्रमुख रूप से दो तरह के असन्तुलन पैदा हो सकते है। प्रादेशिक असन्तुलन (Regional Imbalance) और क्षेत्रो क्षेत्रों के बीच का असतुलन (Inter-Sectoral Imbalance)। आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे से पैदा होने वाला असतुलन कम करने के लिए कोशिश की जानी चाहिए, ऐसा आम आदमी को भी लगने लगा है। यह सबके लिये महत्वपूर्ण है यानी सबकी भावनाओ से जुड़ा सवाल बन गया है। महाराष्ट्र मे प्रादेशिक असन्तुलन के सम्बन्ध मे सरकार की तरफ से नियुक्त दांडेकर समिति उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप बनी थी, ऐसा कहना उचित होगा।

प्रस्तुत लेख मे कृषि और उद्योग दोनो क्षेत्रो के विकास मे उत्पन्न असन्तुलन, उसकी उत्पादन वृद्धि के असन्तुलन मे परखने की कोशिश की गई है। उसके लिए कृषि-उत्पादन और औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि के दर (Growth rates) का उपयोग किया है।

महाराष्ट्र राज्य की स्थापना मध्यप्रदेश के विदर्भ और हैदराबाद राज्य के मराठवाडा क्षेत्रो को सम्मिलित करके 1 मई 1960 को की गयी। राज्य स्थापित होने से आज तक इस राज्य ने कृषि और उद्योग के क्षेत्रो मे बहुत तरक्की की है। भौगोलिक प्रदेश और जनसख्या की दृष्टि से सोचने पर भारत के राज्यो मे महाराष्ट्र तीसरे स्थान पर है तो साक्षरो की दृष्टि से केरल के बाद दूसरे स्थान पर। यहा की शहरी जनसख्या की मात्रा (35 प्रतिशत) भारत की औसत मे (23 प्रतिशत) बहुत अधिक है। इससे राज्य मे हुई औद्योगिक प्रगति (Industrialistion) का अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत के कुल ग्रॉस उपजाऊ क्षेत्र मे से (Total Gross Cropped Area) 12 प्रतिशत भाग मे महाराष्ट्र मे था जो कुल नेट उपजाऊ क्षेत्र का (Total Net Cropped Area) 13 प्रतिशत था। इसी प्रकार मे राज्य का नेट उपजाऊ क्षेत्र का 10 प्रतिशत और ग्रास उपजाऊ क्षेत्र का 13 प्रतिशत भाग सिचाई मे था। उसी साल पूरे भारत के लिए इसकी मात्रा क्रमश: 28 और 30 प्रतिशत थी।

उपर्युक्त आकडो को ध्यान मे देखने पर पता चलता है कि कृषि की उत्पादकता निराशाजनक है। उदाहरण के लिए सन मे भारत मे अनाज-उपजाऊ क्षेत्र का 11 प्रतिशत सिर्फ महाराष्ट्र मे था। किन्तु अनाज पैदावार का केवल 5 प्रतिशत उत्पादन यहा हुआ था। इसी प्रकार की स्थिति कपास-विकास के बारे मे नजर आती है। देश के कपास-उपजाऊ क्षेत्र के अडतीस प्रतिशत क्षेत्र और कुल पैदावार का सिर्फ 11 प्रतिशत महाराष्ट्र मे हुआ था।[1]

महाराष्ट्र के उद्योग क्षेत्र की तुलना भारत से करने पर प्रतीत होता है कि भारत की कुल औद्योगिक पूजी का 17 प्रतिशत पूजी 8 5 % मे और मजदूरो ने 17 5 प्रतिशत महाराष्ट्र के उद्योग क्षेत्र मे है। ... औद्योगिक उत्पादन के ग्रास मूल्य का भारत के औद्योगिक ... मूल्य मे उत्पादन की मात्रा 23 5 प्रतिशत है। उसी प्रकार हर मजदूर के पीछे औसत उत्पादकता और औसत 'बढाया हुआ मूल्य' और पूजी मे लगाए हुए काय की औसत उत्पादकता भारत के मुकाबले मे महाराष्ट्र मे ज्यादा है।[2]

उपर्युक्त कृषि और उद्योग के कार्य की पृष्ठभूमि पर महाराष्ट्र मे इन दोनो क्षेत्रो के विकास मे ... असन्तुलन को देखने का प्रयास किया गया है। यह लेख दो भागो मे बटा हुआ है। पहले भाग मे महाराष्ट्र के कृषि और उद्योग क्षेत्र के विकास को भारत के मुकाबले मे स्पष्ट किया गया है। कृषि क्षेत्र के विकास का मूल्यांकन मुख्य रूप से कृषि क्षेत्र ने मूल्य मे हुए वृद्धि दर (Growth Rates of Value added by agriculture) और कृषि उत्पादन वृद्धि के दर (Growth Rates of agricultural Production) की दृष्टि से किया हुआ है। उसी प्रकार महाराष्ट्र के उद्योग क्षेत्र ने मूल्य मे की हुई बढोत्तरी की वृद्धि दर और औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर के द्वारा उद्योग क्षेत्र के विकास का विचार किया गया है। दूसरे भाग मे महाराष्ट्र के कृषि और उद्योग क्षेत्र के विकास मे राज्य के निर्माण (स्थापना) से किस प्रकार असन्तुलित दर से हुआ है, यह स्पष्ट किया गया है। अन्त मे कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष दिये गये है।

## I

कृषि और उद्योग क्षेत्र के विकास को समझने के लिए इन क्षेत्रों ने मूल्य मे की हुई बढोत्तरी की वृद्धि दर और कृषि और औद्योगिक उत्पादन के वृद्धि दर का सहारा लिया जा सकता है। इसमे आर्थिक विकास ध्यान म आता है। इसकी विस्तार स चर्चा नीचे दी गई है।

राज्य के आर्थिक विकास का राज्य म हुई अन्तर्गत आय (उत्पन्न) (SDP) महत्वपूर्ण निदर्शक है। सातवे दशक मे महाराष्ट्र [illegible] आय प्रतिवर्ष चार प्रतिशत ज्यादा दर से नहीं [illegible] इन [illegible] वर्षो के दौरान वह [illegible] (कीमत [illegible]) 4.9 [illegible] म 86-87 के दरम्यान [illegible] 4.4 प्रतिशत [illegible] दर [illegible] गया।

सातवे दशक म राज्य [illegible] आय [illegible] हुई वृद्धि प्रमुख रूप म [illegible] क्षेत्र के मूल्य म बढोतरी [illegible] हुई [illegible] दर [illegible] नवे दशक मे अधिक होने की [illegible] कृषि क्षेत्र [illegible] पैदावार [illegible] सिचाई [illegible] इस समय मे आने वाले लम्बे [illegible] महाराष्ट्र मे कृषि क्षेत्र म [illegible] प्रतिशत तक [illegible] हुआ है। [illegible] अनाज पैदावार की बढोतरी का दर आठवे दशक मे [illegible] इस प्रकार वृद्धि दर (मूल्य म बढोतरी [illegible]) मे [illegible] प्रमाण [illegible] स्थितियो के कारण हुई थी, क्योंकि महाराष्ट्र म [illegible] प्रमुख रूप से [illegible] पर निर्भर है। राज्य के 303 तालुका मे से 9 [illegible]

उद्योग क्षेत्र [illegible] पर पाया जाता है कि [illegible] क्षेत्र ने सातवे दशक म मूल्य बढोतरी म प्रतिवर्ष 6.4 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई थी। यह दर कृषि क्षेत्र की दर की तुलना मे अधिक था। आठवे दशक [illegible] मध्य तक [illegible] तक उद्योग क्षेत्र की बढोतरी मूल्य वृद्धि दर 3.0 प्रतिशत घटा था, किंतु राज्य के कृषि क्षेत्र के पिछडेपन का [illegible] उद्योग क्षेत्र पर उसी अनुपात मे नही हुआ। कृषि क्षेत्र पर [illegible] भी अनुपात म नही हुआ। कृषि क्षेत्र की विपरीत स्थिति की ओर ध्यान देने म- औद्योगिक क्षेत्र की यह बढोतरी मूल्य वृद्धि दर उचित लगती है।